प्रथम संस्करण : १६४८

प्रकाशक : इण्डिया पब्लिशर्स, ३३३, मोहतशिमगंज, इलाहाबाद
मुद्रक : रामशरण अग्रवाल, प्रगति प्रेस, २ अ, ड्रमण्ड रोड इलाहाबाद

सूचना

यह पुस्तक प्रथम दो निबंधों को छोड़कर 'हंस' में प्रकाशित मेरे निबंधों, सम्पादकीय लेखों, आलोचनाओं और भाषणों का संग्रह है। 'साहित्य की परख' सर्व-प्रथम साहित्य-संदेश में प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक के अतिरिक्त यह निबंध 'निराला अभिनन्दन ग्रन्थ' में भी प्रकाशित हो रहा है।

रेडियो, हिन्दुस्तानी राष्ट्र-भाषा, साहित्य सम्मेलन, गत महायुद्ध, तथा राजनीतिक समस्याओं से सम्बन्धित अन्य लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों को मैंने इस संग्रह में सम्मिलित नहीं किया है, क्योंकि, कदाचित् उनका महत्व नितान्त सामयिक था। हिन्दुस्तानी और राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर अपने अध्ययन-मनन से मैं जिन परिणामों पर पहुँचा हूँ, उनसे पाठक मेरी दूसरी पुस्तक 'प्रगतिवाद' में संग्रहीत निबंध 'राष्ट्रभाषा : विवाद और समाधान' द्वारा अवगत हो सकते हैं।

इस संग्रह के निबंधों का संकलन यद्यपि उनकी उपयोगिता के कारण ही किया गया है, तो भी यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये निबंध एक मासिक-पत्र के सम्पादन-कार्य को दृष्टि में रखकर लिखे गये थे। केवल पहला निबंध ही इसका अपवाद है। अतः इन लेखों के बारे में सम्पूर्णता का आग्रह नहीं किया जा सकता।

अञ्चल की तीन पुस्तकों—मधूलिका, अपराजिता और किरणवेला—की आलोचना इस संग्रह में दी गयी है। इस बीच अञ्चल के अन्य कई कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उचित तो यही होता कि उनकी आलोचना भी इसमें सम्मिलित होती, क्योंकि इस बीच

जीवनानुभव की सबल और निर्भीक अभिव्यक्ति करने की ओर अञ्चल प्रयत्नशील रहे हैं और इस दिशा में उन्हें संतोषजनक सफलता भी मिली हैं। अतः पाठकों को अञ्चल की कविता के सम्बन्ध में पढ़ते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह आलोचना उनकी प्रथम तीन पुस्तकों तक ही सीमित है।

अंत में मैं अपने मित्र जगत शंखधर जिनको यह पुस्तक समर्पित है तथा त्रिलोचन शास्त्री के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना आवश्यक समझता हूँ, क्योंकि यथावसर इन निबन्धों के लिखने में उन्होंने न केवल उपयोगी परामर्श ही दिये बल्कि मेरा भार हल्का करने के लिए इनको क़लमबन्द करने में भी सहायता दी।

—शिवदानसिंह चौहान

प्रिय जगत को

क्रम-सूची

साहित्य की परख

साहित्य या कला के मूल्यांकन के लिए एक वैज्ञानिक समीक्षा-शास्त्र और पद्धति के निर्माण का प्रश्न केवल साहित्यालोचकों के लिए ही नहीं, वरन् प्रत्येक पाठक, द्रष्टा या श्रोता के लिए प्रासंगिक और सारपूर्ण है। परन्तु वत्सराज भणोत ने अपने निबन्ध 'कला-समीक्षा और पूर्वाग्रह'* में जो सापेक्षतामूलक स्थापना की है, उसे यदि सत्य और विश्वसनीय मान लें तो पाठक, द्रष्टा या श्रोता को निर्विकल्प भाव से पूर्वाग्रही (प्रेजुडिस्ड) होना चाहिए और उसे कला के समीक्षकों द्वारा निरूपित मान-मूल्यों से अवगत होने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः वत्सराज भणोत के अनुसार कला या साहित्य के सामान्य मान-मूल्य निर्धारित करने का कार्य आलोचक का भी नहीं है, प्रत्युत कलाकार, आलोचक, पाठक (द्रष्टा या श्रोता) इन सभी को अनिवार्यतः पूर्वाग्रही होना चाहिए, अतः यह इंगित नहीं होना चाहिए कि किसी कलाकृति में सन्निहित अनुभव की पूर्ण अनुभूति के लिए आलोचक अपनी समीक्षा द्वारा उस अनुभव की पुनरुक्ति करे और पाठक अपने व्यक्तिगत अनुभव की अपेक्षा में आलोचक द्वारा उद्घाटित कलाकृति के गूढ़ मन्तव्यों, सौन्दर्य-तत्वों और जीवन-सत्यों का चेतनाप्रेरक और स्वास्थ्यदायक अनुभव ग्रहण करे। मात्र सापेक्षतामूलक समालोचना-दृष्टि ऐसे ही एकांगी प्रवादों को जन्म देती है।

---

*देखिये 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' भाग २

परन्तु 'पूर्वाग्रह' साहित्य या कला के मूल्य का आधार नहीं बन सकता। साहित्य या कला मनुष्य की संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट सार-भाग है। केवल इतना ही नहीं, युग-युगान्तर से व्यष्टि और समष्टि, आत्म और परिवृत्ति में जो मौलिक प्रगतिमूलक क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संघर्ष अनवरत् चलता आया है और चलता जायगा और जिसके परिणाम-स्वरूप ही मनुष्य का सामाजिक जीवन वर्धमान है, और मनुष्य का पूर्ण आत्म-विकास सम्भाव्य बना है—इस महान संघर्ष का मनुष्य ने किस प्रकार सामना किया है, कैसे निरन्तर घटित होने वाले असामञ्जस्य और वैषम्य का विरोध करके उसने नित नूतन जीवनप्रद सन्तुलन प्राप्त किया है और करता जा रहा है—इस समस्त मानवीय कृतित्व और तज्जनित मानव मूल्यों के निर्माण का इतिहास, मनुष्य की समस्त विकासोन्मुखी सचेतन और अवचेतन प्रचेष्टा और परिणाम का विविध भाव, वर्ण, रूप, रस, गन्धमय अनुभव कला और साहित्य में अपनी विशिष्ट मूर्तिमत्ता के साथ प्रतिबिम्बित हैं। निरपवाद रूप से व्यक्ति और समाज दोनों की भावी प्रगति के योग-क्षेम की दृष्टि से जैसे कला और साहित्य का नव-नव निर्माण प्रयोजनीय है, वैसे ही उसके व्यापक मानव-मूल्यों का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय है।

फ्रॉयड के मनस्तत्व विश्लेषण-शास्त्र की दृष्टि से 'संस्कृति और साहित्य' की समस्या पर विचार करने वाले अज्ञेय भी इस बात के समर्थक हैं कि मनुष्य की 'चेतना का संस्कार' करने के लिए एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण होना चाहिए। यद्यपि मनुष्य के भौतिक जीवन की उन्नति और यन्त्र-साधनों के अपरिसीमित विकास से किंचित त्रस्त होकर वे एल्डूस हक्सले के 'नूतन रहस्यवाद' के रूप में 'चेतना का संस्कार' करना चाहते हैं, और 'संस्कृति की रक्षा' के लिए जिस 'आलोचक राष्ट्र का निर्माण' करना चाहते हैं, उसके निश्चित साध्य और साधन, उद्देश्य और कार्यक्रम का सिर-पैर अज्ञात है।

परन्तु उनकी तर्क-प्रणाली और विचार-धारा चाहे कितनी निरर्थक और सारहीन क्यों न हो, उनका 'चेतना के संस्कार' का आग्रह कोरा आवेगपूर्ण उच्छ्वास नहीं है। वह व्यक्ति और समाज के एक मूल-भूत असामञ्जस्य की ओर संकेत करता है, जिसका निराकरण करने की विधि, संभव है, अज्ञेय के अनुमान से कहीं अधिक व्यापक व्यक्ति-समाज की संयुक्त चेष्टा का आह्वान करेगी।

अतः आज कला या साहित्य के समीक्षक का दायित्व बहुत बढ़ गया है। प्रश्न केवल 'संस्कृति की रक्षा' का ही नहीं है, बल्कि प्रश्न नयी संस्कृति के निर्माण का भी है। भौतिक उन्नति और यन्त्र-साधनों के विकास को मनुष्य या मनुष्यत्व, आत्म या व्यक्तित्व के प्रतिपक्षी के रूप में देखना—गत वर्षों के भयंकर विध्वंस और नैतिक अधःपतन से चाहे उदारचेता विचारकों और दार्शनिकों के समस्त आशामय स्वप्न छिन्न-भिन्न क्यों न हो गये हों—मनुष्य के अब तक के कृतित्व, उसकी रक्त-स्वेद बहाकर अर्जित सफलताओं को नकारना है और संस्कृति के वास्तविक प्रश्न से विमुख होना है। क्योंकि मनुष्य की भौतिक [वैज्ञानिक] उन्नति को मिटाकर संस्कृति की रक्षा या उसके निर्माण का प्रश्न हल नहीं किया जा सकता। 'नूतन रहस्यवाद' अपनी अन्तिम परिणति में 'अबुद्धिवाद' और 'अन्ध-विश्वास' का ही पर्याय बन जाता है, इतना तो साधारणतया अनुमेय है। वास्तव में संस्कृति का प्रश्न नये जनवादी समाज के निर्माण का प्रश्न है जिसमें केवल आर्थिक शोषण और विज्ञान और यंत्रसाधनों के मानव-संहारी प्रयोग [या दुरुपयोग] का बंद करना ही चरम लक्ष्य नही है। अलंकारिक भाषा में हम कह सकते हैं कि आर्थिक-शोषण और साम्राज्यवाद को मिटाकर जो जनवादी समाज निर्मित होगा उसके समाजवादी आर्थिक-सम्बन्ध उस पीठिका का कार्य करेंगे जिस पर नये मानव की मूर्त्ति का संस्थापन किया जायगा, अर्थात् वह ऐसी संस्कृति होगी जो व्यक्ति के पूर्ण आत्म-विकास या आत्म-

सिद्धि का सहज साधन-उपकरण बन सके और इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन को समृद्धि बना सके। व्यक्ति की दृष्टि से नये जनवाद या समाजवाद का यही अन्तिम लक्ष्य है। हम आज संक्रान्ति-काल में रहते हों या अज्ञेय द्वारा निर्दिष्ट 'बढ़ते हुए संघर्ष के युग' में, इस सूक्ष्म विभेद से, अन्ततः, हमारी सांस्कृतिक समस्या में कोई मौलिक अन्तर नही पड़ता, क्योंकि यह 'बढ़ता हुआ संघर्ष, अहेतुक और निरुद्देश्य नहीं है। यदि इतना प्रत्यक्ष है तो यह भी स्पष्ट है कि आज का बढ़ता हुआ संघर्ष किसी विशिष्ट संक्रान्ति-युग की परिकल्पना करके ही हो रहा है। इस कारण वर्तमान और निकटवर्ती भविष्य की सांस्कृतिक समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध हैं।

इस बात को और स्पष्ट करके यों कह सकते हैं कि आज के संघर्ष-युग से नये जनवाद या समाजवाद के निर्माण युग तक के अन्तरावकाश की सांस्कृतिक समस्याएँ एक सूत्र में बँधी हुई हैं। वर्तमान के संघर्ष में जनवादी शक्तियों को अपना समर्थन और सहयोग देने के अतिरिक्त प्रत्येक सृजनकर्त्ता और विशेषकर साहित्यकार और आलोचक के लिए यह काल उन मानव-मूल्यों के निरूपण और समन्वय का है जो एक व्यापक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Social Aesthetic) का मूलाधार बन सकें। व्यक्ति की चेतना के संस्कार, उसकी प्रतिभा के सर्वाङ्गीण विकास और उसके व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए एक ऐसे व्यापक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण की अनिवार्य आवश्यकता है, अन्यथा नये आर्थिक-संबन्धों का तात्पर्य मनुष्य की क्षुधा-काम की वृत्तियों को ऊपर से सन्तुष्ट करना ही समझा जायगा और समाज मूलतः आज की ही तरह असंस्कृत और हिंस्र बना रहेगा—व्यक्ति की आत्मा को परितोष और प्रेरणा न दे सकेगा। इस वैज्ञानिक सौन्दर्यमूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Scientific Social Aesthetic) की अवधारणा कला और साहित्य में प्रतिबिम्बित जीवन-सत्य द्वारा निरूपित मानव-मूल्यों

से ही हो सकेगी । अतः कला और साहित्य को जन-सुलभ बनाने वाली शिक्षण-नीति का प्रश्न भी इससे संबद्ध है, यह भी प्रत्यक्ष है। कला-समीक्षा का कार्य-क्षेत्र अब 'नीर-क्षीर विवेचन' तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। उसे कला के मूलोद्भव की प्रक्रिया की पड़ताल करनी है, कला और जीवन के परस्पर सम्बन्ध का निर्णय करना है, उसके सौन्दर्य-मूल्यों का निरूपण करना है और कला और साहित्य—इन विषयों की ऐसी शिक्षण नीति निर्दिष्ट करनी है कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उनमें व्यक्त मानव-मूल्य अनुभाव्य बन सके जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र समाज के निर्माण-संघर्ष में स्वयं को भी मुक्त कर सके अर्थात् स्वयं अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास भी कर सके।

वर्तमान हिन्दी आलोचना का दृष्टिकोण क्या इतना व्यापक है ?

प्रारंभ में ही यह बता देना आवश्यक है कि हिन्दी आलोचना नगण्य नहीं है और न उसमें उच्चकोटि के आलोचकों का अभाव है। फिर भी अभी तक उसकी स्थिति विचित्र रही है। उसकी तुलना गवैयों की ऐसी मंडली से की जा सकती है जो स्वरसामंजस्य की अवहेलना करके 'अपनी डफली, अपना राग' अलापने में ही मस्त रहती हो। तात्पर्य यह है कि अभी तक कला-साहित्य के ऐसे सामान्य मान-मूल्य सर्व-स्वीकृत नहीं हो पाये हैं, जिन का प्रयोग मूल्यांकन करते समय अधिकांश आलोचक करते हों। परन्तु यदि देखा जाय तो ऐसी स्थिति हर भाषा के साहित्य में मिलेगी, यद्यपि इधर अंग्रेज़ी, अमरीकी और फ़रांसीसी साहित्य में ऐसी व्यापक समन्विति की ओर सचेत चेष्टा का आरंभ हो गया है। हिन्दी में भी वर्तमान अराजकता से ऊब कर बाबू गुलाबराय, अज्ञेय और दो एक अन्य समालोचकों ने कई बार विभिन्न प्रवृत्तियों के समन्वय की मांग की है और इस दिशा में थोड़ा-सा प्रयत्न भी किया है। परन्तु यह क्षेत्र अभी तक अछूता ही पड़ा है, क्योंकि समन्वय भी किसी वैज्ञानिक जीवन-दर्शन के आधार पर ही किया जा सकता है।

दुर्भाग्य से ऐसे जीवन-दर्शन की उपलब्धि इन महानुभावों को नहीं हो सकी है।

हिन्दी आलोचना की जिन विभिन्न प्रवृत्तियों की ओर मैंने अभी संकेत किया है, उनको हम चार दृष्टि-साम्यमूलक वर्गों या प्रवृत्तियों में बांट सकते हैं। पहला वर्ग उन आचार्यों और अध्यापकों का है जो पुराने ढर्रे की शास्त्रीय आलोचना की लकीर अभी तक पीटते जा रहे हैं। एक बड़ी सीमा तक आचार्य शुक्ल ने भी ऐसा ही किया। निस्संदेह उनकी गणना सदा युगविधायक आलोचकों में की जायेगी। उन्होंने प्राचीन लक्षण ग्रन्थों की परंपरा को पुनः खोज निकाला और उसके आधार पर साहित्य-सिद्धान्तों की सांगोपांग व्याख्या की। अपने आलोचना-सिद्धान्तों को आधुनिकता की पुट देने के लिए शुक्लजी ने प्रवृत्ति-निरूपक मनोविज्ञान (Faculty Psychology) का आश्रय लिया, परन्तु इसी से उनके आलोचना-सिद्धान्तों की संकुचित सीमाएँ भी निर्दिष्ट हो गयीं। शुक्ल जी द्वारा की गयी परिष्कृति के अनन्तर भी आधुनिक दृष्टि प्राप्त आलोचकों को यह स्वीकार नहीं हो रहा है कि आलोचना को केवल शब्द-शक्ति, रस, रीति, अलंकार की पद्धतियों तक ही सीमित रखा जाय। इसका मुख्य कारण यह है कि शुक्ल जी एक अवैज्ञानिक आस्थामूलक नीतिमत्ता और वर्णाश्रम धर्म की आदर्शवादिता की अपेक्षा में साहित्य-सिद्धान्तों की मीमांसा कर गये हैं। आधुनिक मनोविज्ञान (Psychology), मानव-शास्त्र (Anthropology) और द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन (Dialectical Materialism) के कला-सम्बन्धी अन्वेषणों-स्थापनाओं का उन्होंने सार ग्रहण नहीं किया।

इसके विपरीत, प्रत्येक मानव-क्रिया, भाव-दशा, और रुचि के मूल में एक एक स्थायी प्रेरक प्रवृत्ति को बिठाकर उन्होंने साहित्य की परिकल्पना को एक स्थिर (Static) विचारधारा में जकड़ दिया। वर्गीकरण, व्यक्त रूप-सौन्दर्य, रूढ़ि के निर्वाह और साम्प्र-

दायिक दर्शन के प्रति उनका विशेष आग्रह रहा। यहां तक कि वे अपने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक अनुभव में अन्तर्भूत अथवा व्यक्त, विशिष्ट और सामान्य, सापेक्ष और निरपेक्ष, सत्य और सौन्दर्य की द्वन्द्वात्मक अन्विति का आकलन करने का कोई व्यापक प्रतिमान स्थिर न कर सके। प्रवृत्ति और निवृत्ति, केवल इन दो परस्पर-विरोधी मूल वृत्तियों की यंत्रवत् कल्पना करके उन्होंने सत्-असत्, सुन्दर-असुन्दर, धर्म-अधर्म के 'ढांचों' में मनुष्य के अनुभव और कर्म को रागात्मिका वृत्ति की मध्यस्थता से ढालने का मूल मंत्र खोज निकाला, और इससे एक का लोक-मंगलकारी, दूसरे का लोक-अमंगलकारी रूप निश्चित कर दिया। 'साधारणीकरण' और 'लोक-मंगल', शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साहित्य के इन दोनों आदर्शों या लक्ष्यों की कल्पना अत्यंत संकुचित और अवास्तविक है। प्रचलित रूढ़ धारणाओं में प्रकट सत्याभास ही उनके आधार हैं, क्योंकि धार्मिक शब्दाडंबर को त्यागकर 'साधारणीकरण' का तात्पर्य यदि केवल साहित्य के प्रेषणीय गुण से है तो इस पर इतना ज़ोर देना एक स्वयंसिद्धि को ही सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न करना है, और विशेष करके तब जब कि प्रेषणीयता के आधार पर एकांगी-मूल्याकन ही संभव है, अन्यथा द्विवेदीकाल का इतिवृत्तात्मक काव्य छायावाद के काव्य से श्रेष्ठ माना जाय और निराला की तुलना में सोहनलाल द्विवेदी को श्रेष्ठतर कवि घोषित किया जाय। साहित्य या कला, रचनाकार की भावनाओं का 'साधारणीकरण' ही नहीं करती, बल्कि वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है और यदि वास्तविकता संश्लिष्ट और जटिल है—जैसी कि वह सर्वदा से है—तो उसका प्रतिबिम्ब भी सीधी, समानान्तर रेखाओं से अंकित नहीं किया जा सकता। जो प्रत्यक्ष (obvious) और बोधगम्य है, वह कला या कविता नहीं हो सकती। कला इसी कारण एक सीमा तक दुरूह और जटिल अनुभव है और उसकी सार्थकता इसी में निहित है कि वह मनुष्य-मात्र की चेतना को अधिक

संश्लिष्ट और समृद्ध बनाती है जिससे वास्तविकता के गूढ़ रहस्य उत्तरोत्तर स्पष्ट होते जाते हैं और मनुष्य सत्य के निकट पहुँचता जाता है। शुक्ल जी का 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त, इस दृष्टि से अत्यन्त सरल सिद्धान्त है, एकांगी और सत्य की छाया मात्र। इसी प्रकार यदि धर्म और अन्धविश्वास का आवरण हटाकर उनके 'लोक-मंगल' के सिद्धान्त की परीक्षा करें तो एक वैज्ञानिक समाज का 'लोक मंगल' शुक्ल जी की दृष्टि से अमंगल और अधर्म का पर्यायवाची न बन जायगा, इससे इन्कार कैसे किया जा सकता है? शब्दों की ध्वनि से हमारी आसक्ति नहीं है, और यदि 'लोक-मंगल' शब्द में अत्यन्त अबोध और पुनीत ध्वनि मिलती है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि शुक्लजी द्वारा की गयी उसकी व्याख्या एक त्रिकालवर्ती सत्य है। शुक्ल जी के स्थूल, भावुक और रूढ़िवादी सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाले आचार्य और अध्यापक अब कला और साहित्य के मूलोद्गम, प्रयोजन और मूल्य इन सभी व्यापक प्रश्नों की अवहेलना करके केवल वर्गीकरण को ही आलोचक धर्म की इतिकर्त्तव्यता मान बैठे हैं।

उनकी तर्क प्रणाली उन धर्मान्ध रूढ़िवादियों की कोटि की है जो किसी नये सत्य का विरोध करते समय कहते हैं 'हमारे यहां ऐसा नहीं है, और यदि नया सत्य अपनी आन्तरिक शक्ति के कारण सर्वमान्य हो गया है और उसका मानना आपद्धर्म बन गया है तो कहते हैं 'तभी तो हमारे यहां अमुक ने ऐसा कहा है'—पर दोनों अवस्थाओं में जिन्हें नया सत्य व्यावहारिक रूप से अमान्य ही होता है। 'लोक-मंगल' जैसे शब्द ऐसी ही अनयाचित परिस्थितियों में ढाल का काम देते हैं। इसमें किंचित आश्चर्य की बात नहीं कि स्वयं शुक्ल जी ने इस हठवादी तर्क-प्रणाली को अपनाया था। प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार चौंसठ कलाओं में साहित्य या काव्य की गणना नहीं करायी गयी है। केवल इतनी सी बात के कारण भारतीय-अभारतीय का अवेज्ञा

निक भावनाजन्य भेद खडा करके उन्होंने साहित्य से कला का संयोग अनर्थहेतुक घोषित करके साहित्य-समीक्षा से उसके बहिष्कार का आदेश दिया था। और इतालवी दार्शनिक क्रोचे के सौन्दर्य-सिद्धान्तों की मनोनुकूल विकृति करके उन्होंने आई. ए. रिचार्ड्स जैसे मनोवैज्ञानिक समीक्षक की पुस्तकों में से पूर्व-प्रकरण से हटाये वाक्यों द्वारा भारतीय लाक्षणिक ग्रन्थों की स्थापनाओं और वर्गीकरण का पिष्ट-पेषण करवाया था। इस प्रकार अपने मत की प्रशस्ति करके उन्होंने अभिव्यंजनावाद, स्वच्छंदतावाद, प्रभाववाद, मूर्तिविधानवाद, परावस्तु-वाद आदि साहित्य कला की आधुनिक प्रवृत्तियों को प्रवाद और वितंडावाद कहकर उनकी निंदा की थी। परन्तु उनकी तर्कशून्यता इसी बात से सिद्ध है कि उन्हें आर्यसमाजियों की तरह भारतीय-अभारतीय के भेद को वैज्ञानिक बहस का निर्णेता स्वीकार करना पड़ा। आइन्स्टीन का 'सापेक्षतावाद' का सिद्धान्त अभारतीय है, अतः असत्य और अग्राह्य है—ऐसा कहने वाले व्यक्ति में आत्म-प्रवंचना की कितनी शक्ति न होनी चाहिये। कविता भारतीय-अभारतीय हो सकती है, परन्तु भौतिक-विज्ञान, रसायन-शास्त्र, बीजगणित या समाज-विज्ञान और साहित्यालोचन को किसी देश की भौगोलिक सीमा में नहीं बाधा जा सकता। अधिक से अधिक इन विज्ञानों का सम्बन्ध सांस्कृतिक-युगों से जोडा जा सकता है, परन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में ऐसे युगों का युगान्तरकारी चित्र कभी नहीं बन सका। फलतः अपनी तर्क-शून्यता और दुराग्रह को टाकने के लिए उन्होंने अनपेक्षित पाण्डित्य-प्रदर्शन का रूपक रचा।

शुक्ल जी के अनुगामी, पाण्डित्य का इतना विशाल घटाटोप खड़ा करने में अपने को असमर्थ पाकर और यह देखकर कि प्राचीन आचार्यों ने शब्दशक्ति, रस, रीति, अलंकार के भेदोपभेदों की संख्या पहले ही समाप्त करदी है, कभी शुक्लजी के ही तर्कों की आवृत्ति करते हैं, कभी आधुनिक रचनाओं में इन भेदोपभेदों के दृष्टान्त

संश्लिष्ट और समृद्ध बनाती है जिससे वास्तविकता के गूढ़ रहस्य उत्तरोत्तर स्पष्ट होते जाते हैं और मनुष्य सत्य के निकट पहुँचता जाता है। शुक्ल जी का 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त, इस दृष्टि से अत्यन्त सरल सिद्धान्त है, एकांगी और सत्य की छाया मात्र। इसी प्रकार यदि धर्म और अन्धविश्वास का आवरण हटाकर उनके 'लोक-मंगल' के सिद्धान्त की परीक्षा करें तो एक वैज्ञानिक समाज का 'लोक मंगल' शुक्ल जी की दृष्टि से अमंगल और अधर्म का पर्यायवाची न बन जायगा, इससे इन्कार कैसे किया जा सकता है? शब्दों की ध्वनि से हमारी आसक्ति नहीं है, और यदि 'लोक-मंगल' शब्द में अत्यन्त अबोध और पुनीत ध्वनि मिलती है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि शुक्लजी द्वारा की गयी उसकी व्याख्या एक त्रिकालवर्ती सत्य है। शुक्ल जी के स्थूल, भावुक और रूढ़िवादी सिद्धान्तों का अनुगमन करने वाले आचार्य और अध्यापक अब कला और साहित्य के मूलोद्गम, प्रयोजन और मूल्य इन सभी व्यापक प्रश्नों की अवहेलना करके केवल वर्गीकरण को ही आलोचक धर्म की इतिकर्त्तव्यता मान बैठे हैं।

उनकी तर्क प्रणाली उन धर्मान्ध रूढ़िवादियों की कोटि की है जो किसी नये सत्य का विरोध करते समय कहते हैं 'हमारे यहां ऐसा नहीं है, और यदि नया सत्य अपनी आन्तरिक शक्ति के कारण सर्वमान्य हो गया है और उसका मानना आपद्धर्म बन गया है तो कहते हैं 'तभी तो हमारे यहां अमुक ने ऐसा कहा है'—पर दोनों अवस्थाओं में जिन्हें नया सत्य व्यावहारिक रूप से अमान्य ही होता है। 'लोक-मंगल' जैसे शब्द ऐसी ही अनयाचित परिस्थितियों में ढाल का काम देते हैं। इसमें किंचित आश्चर्य की बात नहीं कि स्वयं शुक्ल जी ने इस हठवादी तर्क-प्रणाली को अपनाया था। प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार चौंसठ कलाओं में साहित्य या काव्य की गणना नहीं करायी गयी है। केवल इतनी सी बात के कारण भारतीय-अभारतीय का अवैज्ञा

निक भावनाजन्य भेद खड़ा करके उन्होंने साहित्य से कला का संयोग अनर्थहेतुक घोषित करके साहित्य-समीक्षा से उसके बहिष्कार का आदेश दिया था। और इतालवी दार्शनिक क्रोचे के सौन्दर्य-सिद्धान्तों की मनोनुकूल विकृति करके उन्होंने आई. ए. रिचार्ड्स जैसे मनोवैज्ञानिक समीक्षक की पुस्तकों में से पूर्व-प्रकरण से हटाये वाक्यों द्वारा भारतीय लाक्षणिक ग्रन्थों की स्थापनाओं और वर्गीकरण का पिष्ट-पेषण करवाया था। इस प्रकार अपने मत की प्रशस्ति करके उन्होंने अभिव्यंजनावाद, स्वच्छंदतावाद, प्रभाववाद, मूर्तिविधानवाद, परावस्तुवाद आदि साहित्य-कला की आधुनिक प्रवृत्तियों को प्रवाद और वितंडावाद कहकर उनकी निंदा की थी। परन्तु उनकी तर्कशून्यता इसी बात से सिद्ध है कि उन्हें आर्यसमाजियों की तरह भारतीय-अभारतीय के भेद को वैज्ञानिक बहस का निर्णेता स्वीकार करना पड़ा। आइन्स्टीन का 'सापेक्षतावाद' का सिद्धान्त अभारतीय है, अतः असत्य और अग्राह्य है—ऐसा कहने वाले व्यक्ति में आत्म-प्रवंचना की कितनी शक्ति न होनी चाहिये। कविता भारतीय-अभारतीय हो सकती है, परन्तु भौतिक-विज्ञान, रसायन-शास्त्र, बीजगणित या समाज-विज्ञान और साहित्यालोचन को किसी देश की भौगोलिक सीमा में नही बांधा जा सकता। अधिक से अधिक इन विज्ञानों का सम्बन्ध सांस्कृतिक-युगों से जोड़ा जा सकता है, परन्तु शुक्ल जी की दृष्टि में ऐसे युगों का युगान्तरकारी चित्र कभी नहीं बन सका। फलतः अपनी तर्क-शून्यता और दुराग्रह को ढांकने के लिए उन्होंने अनपेक्षित पाण्डित्य-प्रदर्शन का रूपक रचा।

शुक्ल जी के अनुगामी, पाण्डित्य का इतना विशाल घटाटोप खड़ा करने में अपने को असमर्थ पाकर और यह देखकर कि प्राचीन आचार्यों ने शब्दशक्ति, रस, रीति, अलंकार के भेदोपभेदों की संख्या पहले ही समाप्त करदी है, कभी शुक्लजी के ही तर्कों की आवृत्ति करते हैं, कभी आधुनिक रचनाओं में इन भेदोपभेदों के दृष्टान्त

सूचित करके मूल्यांकन के प्रश्न से छुट्टी पा लेते हैं, तो कभी साहित्य के आधुनिक रूप-विधानों—जैसे उपन्यास, कहानी और गीति-काव्य का क्षेत्र सपाट पाकर उन्हें भी कोष्ठबद्ध करने लगते हैं। अर्थात् उनका वर्गीकरण करने में संलग्न हो जाते हैं। अध्यापक श्रीकृष्णलाल की 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास' नाम की पुस्तक इस प्रवृत्ति का साधारण उदाहरण है। उन्होंने गीति-काव्य के पाँच भेद किये हैं—व्यंग्य गीति, पत्र-गीति, शोक-गीति, वर्ग भावना से प्रेरित गीति और अध्यान्तरित-गीति, और फिर इनके भी उपभेद कर डाले हैं। इसी प्रकार उपन्यासों के भी एक दर्जन भेद आप को यहाँ मिलेंगे। प्रत्येक नयी रचना अपनी शैलीगत विशेषता के कारण इन अध्यापकों को एक नये भेद का खाना खोलने के लिए विवश कर देती है। फिर भी, कविता, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध आदि के तीन या तेरह भेद होते हैं—उनके इस 'होते हैं' के निश्चयात्मक स्वर में शिथिलता नहीं आती। साहित्य के गंभीर मर्मज्ञ पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और यदाकदा मनोविज्ञान से प्रेरणा लेने वाले डा० रामकुमार वर्मा तक इस मनोवृत्ति से छुटकारा नहीं पासके हैं।

साहित्यालोचन की दूसरी विचारधारा आधुनिक मनो-विज्ञान—वस्तुतः फ्रायट-एडलर-युग के मनोविश्लेषण-शास्त्र से प्रभावित है। अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी, इस प्रसङ्ग में केवल ये दो नाम ही उल्लेखनीय हैं। दोनों उपन्यासकार, कवि, और आलोचक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अज्ञेय ने अपने निबन्धों में कला के मूल्याङ्कन का प्रश्न पूरी गम्भीरता के साथ उठाया है। और जो लोग मनो-विज्ञान की आधुनिक प्रवृत्तियों से अनभिज्ञ हैं, उन्हें इन निबन्धों में नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी मिलेगा। मूल्याङ्कन करते समय कला-सृजन में व्यक्ति के अहं और अवचेतन का और समाज की परिस्थिति या परिवृत्ति का क्या महत्व है? इन प्रश्नों का निर्देश करके उन्होंने कला-साहित्य विषयक रूढ़ धारणाओं को नयी अन्तर्दृष्टि दी है। परन्तु

इन तत्वों की उन्होंने जो व्याख्या की है वह अत्यन्त एकांगी और यन्त्रवत् है। वैसे उनके समूचे दृष्टि-कोण में एक आन्तरिक विसंगति है जो एक समन्वित दृष्टिकोण के अभाव की सूचक है।* एक ओर वे कलाकार और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को ऐसा 'विद्रोहतत्व' मानते हैं जो पुरानी लीक पर न चल कर अपनी नई लीक बनाता है, अपने व्यक्तित्व की पूर्ण स्वीकृति पाने के लिए अपनी परम्परा स्वयं गढ़ता है; दूसरी ओर, रूढ़ि के अर्थ को परिवर्धित करके वे कलाकार से यह अपेक्षा भी रखते हैं कि वह रूढ़ि के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करने के लिए रेल के ऐञ्जिन की तरह अपने को परम्परा के आगे जोड़ दे। एक स्थान पर अंग्रेज़ी कवि और समालोचक टी० एस० ईलियट के निबन्ध (The Sacred Wood) में से 'कविता व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से मोक्ष है', इस वाक्य को उद्धृत् करके कलाकार से 'निर्व्यक्तिकता' की माँग करते हैं तो दूसरे स्थान पर एक 'वृहत्तर व्यक्तित्व' के निर्माण का प्रश्न भी उठाते हैं। उनके दृष्टिकोण में ऐसी विसंगतियों की निरी भरमार है। और यह भी सन्दिग्ध है कि ईलियट, एड्नर फ्रायड, हक्सले, हर्बर्ट रीड आदि के मतों को ज्यों का त्यों प्रतिपादन करते समय वे उनके परस्पर सम्बन्ध को या उनके पूरे अर्थारोप को भी समझते हैं।

उदाहरण के लिए कला की परिभाषा के रूप में यह सूत्र बता कर कि, 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—है' जब वे इस स्थापना को सिद्ध करने के लिए सांस्कृतिक प्रागजीवन में कला को जन्म देने वाले प्रथम पुरुष की, जो 'किसी कारण कमज़ोर प्राणी है' और सामाजिक कार्य में भाग लेने में असमर्थ है, कल्पना करते हैं तो यह कल्पना आधुनिक मानवशास्त्र (Anthropology) की गवेषणाओं के प्रतिकूल यान्त्रिकता से आबद्ध और

---

* देखिए अज्ञेय का निबन्ध-संग्रह 'त्रिशंकु'

शिशुवत् लगती है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कला कुछ ऐसे बीमार, पंगु, विकलांग और संभव है विक्षिप्त व्यक्तियों की ही सृष्टि है जो अपने असामाजिक ठलुआ जीवन के अभाव की पूर्ति के लिए अपनी कुतूहल और कौतुक-वृत्ति और हीन-भावना से प्रेरित होकर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियाँ खीचते रहते हैं या शब्दों का इन्द्रजाल बुनते रहते हैं। यही कला-कृतियाँ बन जाती हैं। उनमें दूसरों को सौन्दर्य-बोध होने लगता है और इस प्रकार उन 'बेचारे कलाकरों' का व्यक्तित्व या उनकी सत्ता प्रमाणित हो जाती है।

अज्ञेय की इस परिभाषा से अनेक विचित्र परिणाम निकलते हैं। कला यदि 'सामाजिक अनुपयोगिता' की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न है तो निश्चय ही कला समाज पर बाहर से (प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही सही) आरोपित वस्तु है, स्वयं सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं से, सामाजिक जीवन की सूक्ष्मतर सौन्दर्यमयी जीवनानुभूति, मनुष्यमात्र की उत्तरोत्तर मुक्त और संस्कृत जीवन निर्माण करने की आकांक्षा से प्रेरित व्यक्ति की प्रतिक्रिया से उत्पन्न वस्तु नहीं है। ऐसी स्थिति में कला या साहित्य की प्रवृत्तियों, विचारधाराओं, मान-मूल्यों का ज़िक्र ही निरर्थक हो जाता है। फिर किस चमत्कारी तिलिस्म के घटित होने से कलाकार नामधारी विक्षिप्त जन्तु की कौतुक-कृतियों में पाठक या द्रष्टा को सौन्दर्य (व्यवस्था, नियम, उपयोगिता, सहानुभूति, प्रेरणा) का बोध होने लगता है, यह एक गुप्त रहस्य है। निस्संदेह, अज्ञेय की स्थापना हास्यास्पद है।

इसी प्रकार ईलियट के इस उद्धरण में कि 'कवि एक विशेष माध्यम को व्यक्त करता है, व्यक्तित्व को नहीं', 'माध्यम' का अर्थ 'कवि-मानस' नहीं लगाया जा सकता जैसा कि अज्ञेय ने किया है, बल्कि हर्बर्ट रीड के अनुसार उसका आशय शब्द-ध्वनि सम्बन्धी स्नायविक संवेदनीयता में ही लिया जा सकता है, अन्यथा यह

स्थापना निरर्थक है। इन संगत-असंगत उक्तियों को छोड़ कर यदि अज्ञेय के कला-मूल्य निरूपक जीवन-दर्शन की परीक्षा करें तो उसकी एकांगिता और यन्त्रवत्ता और भी मुखर लगती है।

वस्तुतः उनके निकट कला का मूल्य उसके चमत्कार में है। चमत्कार उसका साध्य भी है। कला के मानव-मूल्य या उसकी सामाजिक उपयोगिता आदि प्रश्न केवल प्रासंगिक महत्व रखते हैं। चमत्कार-सृजन हो जाने के पश्चात् समाज उससे जैसी प्रेरणा चाहे लेने को स्वतन्त्र है। [यदि नात्सियों को यह फ़ामूला ज्ञात होता तो कलाकारों के चमत्कार-विधान से वे भी लाभ उठाते, उनकी कलाकृतियों की होली जलाने और जीवित कलाकारों को निर्वासित करने या प्राणदण्ड देने की क्या आवश्यकता थी ?] उसके पूर्व कला या कलाकार से प्रगतिशील अथवा नैतिक होने न होने का आग्रह करना अथवा उनसे यह अपेक्षा रखना कि वे कला में वास्तविकता का गत्यात्मक प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की चेष्टा करें, अथवा केवल इतना सोचना भी कि कलाकार स्वभावतः ऐसा करता है, कला को अनवांछित बाध्यताओं और पूर्वधारणाओं में बाँध कर उससे 'ऐच्छिक प्रेरणा' पाने का दुराग्रह करना है। आलोचक का कर्तव्य केवल इतना है कि वह "पैर की छाप" पढ़ कर बताये कि कलाकार नामधारी जन्तु किस दिशा की ओर निकल गया। इस प्रकार अज्ञेय के अनुसार 'आलोचना' न वैज्ञानिक क्रिया है, न सृजनात्मक। अपनी विसंगतियों के कारण अज्ञेय, अन्ततोगत्वा, उसी मात्र सापेक्षतामूलक सौन्दर्यदृष्टि पर आकर ठहर जाते हैं, जिससे आगे बढ़ कर, चाहे मनोविश्लेषण-शास्त्र के एकांगी दृष्टिकोण से ही क्यों न हो, वे कला के मान-मूल्य निर्धारित करने का बीड़ा उठाते हैं और केवल "पैर की छाप" पढ़ कर बूझने वाले 'लाल बुझक्कड़' ही नहीं बने रहना चाहते।

इस स्थिति में पड़ कर प्रगतिवाद का विरोध करके 'नूतन रहस्यवाद' की ओर आकृष्ट होना, कला की परख के लिए एक प्रबुद्ध

शिशुवत् लगती है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि कला कुछ ऐसे बीमार, पंगु, विकलांग और संभव है विक्षिप्त व्यक्तियों की ही सृष्टि है जो अपने असामाजिक ठलुआ जीवन के अभाव की पूर्ति के लिए अपनी कुतूहल और कौतुक-वृत्ति और हीन-भावना से प्रेरित होकर कुछ टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियाँ खींचते रहते हैं या शब्दों का इन्द्रजाल बुनते रहते हैं। यही कला-कृतियाँ बन जाती हैं। उनमें दूसरों को सौन्दर्य-बोध होने लगता है और इस प्रकार उन 'बेचारे कलाकरों' का व्यक्तित्व या उनकी सत्ता प्रमाणित हो जाती है।

अज्ञेय की इस परिभाषा से अनेक विचित्र परिणाम निकलते हैं। कला यदि 'सामाजिक अनुपयोगिता' की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न है तो निश्चय ही कला समाज पर बाहर से (प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियो द्वारा ही सही) आरोपित वस्तु है, स्वयं सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं से, सामाजिक जीवन की सूक्ष्मतर सौन्दर्यमयी जीवनानुभूति, मनुष्यमात्र की उत्तरोत्तर मुक्त और संस्कृत जीवन निर्माण करने की आकांक्षा से प्रेरित व्यक्ति की प्रतिक्रिया से उत्पन्न वस्तु नहीं है। ऐसी स्थिति में कला या साहित्य की प्रवृत्तियों, विचारधाराओं, मान-मूल्यो का ज़िक्र ही निरर्थक हो जाता है। फिर किस चमत्कारी तिलिस्म के घटित होने से कलाकार नामधारी विक्षिप्त जन्तु की कौतुक-कृतियों में पाठक या द्रष्टा को सौन्दर्य (व्यवस्था, नियम, उपयोगिता, सहानुभूति, प्रेरणा) का बोध होने लगता है, यह एक गुप्त रहस्य है। निस्संदेह, अज्ञेय की स्थापना हास्यास्पद है।

इसी प्रकार ईलियट के इस उद्धरण में कि 'कवि एक विशेष माध्यम को व्यक्त करता है, व्यक्तित्व को नहीं', 'माध्यम' का अर्थ 'कवि-मानस' नहीं लगाया जा सकता जैसा कि अज्ञेय ने किया है, बल्कि हर्बर्ट रीड के अनुसार उसका आशय शब्द-ध्वनि सम्बन्धी स्नायविक संवेदनीयता से ही लिया जा सकता है, अन्यथा यह

स्थापना निरर्थक है। इन संगत-असंगत उक्तियों को छोड़ कर यदि अज्ञेय के कला-मूल्य निरूपक जीवन-दर्शन की परीक्षा करें तो उसकी एकांगिता और यन्त्रवत्ता और भी मुखर लगती है।

वस्तुतः उनके निकट कला का मूल्य उसके चमत्कार में है। चमत्कार उसका साध्य भी है। कला के मानव-मूल्य या उसकी सामाजिक उपयोगिता आदि प्रश्न केवल प्रासंगिक महत्व रखते हैं। चमत्कार-सृजन हो जाने के पश्चात् समाज उससे जैसी प्रेरणा चाहे लेने को स्वतन्त्र है। [यदि नात्सियों को यह फ़ार्मूला ज्ञात होता तो कलाकारों के चमत्कार-विधान से वे भी लाभ उठाते, उनकी कलाकृतियों की होली जलाने और जीवित कलाकारों को निर्वासित करने या प्राणदण्ड देने की क्या आवश्यकता थी ?] उसके पूर्व कला या कलाकार से प्रगतिशील अथवा नैतिक होने न होने का आग्रह करना अथवा उनसे यह अपेक्षा रखना कि वे कला में वास्तविकता का गत्यात्मक प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की चेष्टा करें, अथवा केवल इतना सोचना भी कि कलाकार स्वभावतः ऐसा करता है, कला को अनवांछित बाध्यताओं और पूर्वधारणाओं में बाँध कर उससे 'ऐच्छिक प्रेरणा' पाने का दुराग्रह करना है। आलोचक का कर्तव्य केवल इतना है कि वह "पैर की छाप" पढ़ कर बताये कि कलाकार नामधारी जन्तु किस दिशा की ओर निकल गया। इस प्रकार अज्ञेय के अनुसार 'आलोचना' न वैज्ञानिक क्रिया है, न सृजनात्मक। अपनी विसंगतियों के कारण अज्ञेय, अन्ततोगत्वा, उसी मात्र सापेक्षतामूलक सौन्दर्यदृष्टि पर आकर ठहर जाते हैं, जिससे आगे बढ़ कर, चाहे मनोविश्लेषण-शास्त्र के एकांगी दृष्टिकोण से ही क्यों न हो, वे कला के मान-मूल्य निर्धारित करने का बीड़ा उठाते हैं और केवल "पैर की छाप" पढ़ कर बूझने वाले 'लाल बुझक्कड़' ही नहीं बने रहना चाहते।

इस स्थिति में पड़ कर प्रगतिवाद का विरोध करके 'नूतन रहस्यवाद' की ओर आकृष्ट होना, कला की परख के लिए एक प्रबुद्ध

अभिजातवर्ग की कल्पना करना; और यदि कलाकार साधनहीन होने के कारण उपजीवी नहीं बन सकता तो 'जीने के लिए' उसे पत्र-जगत या राजनीति में प्रविष्ट होकर आपद्धर्म की अवसरवादिता स्वीकार करके अपने व्यक्तित्व का एक अंश बेचने के लिए प्रोत्साहित करना, यह सब अज्ञेय के लिए स्वाभाविक हो जाता है। 'सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति' कलाकार को सामाजिक प्राणी के अधिकारों से वंचित रखती है, और वह केवल उपजीवी या अवसरवादी ही हो सकता है। एक कलाकार के रूप में उसे जीने का अधिकार है, और यदि इस अधिकार का अपहरण किया जा चुका है या किया जा रहा है तो उसे प्राप्त करने के लिए लड़ना उसका कर्तव्य है, अज्ञेय की विचारधारा इस कठोर की सत्य की शिला से टक्कर नहीं लेना चाहती। वे पौराणिक 'त्रिशंकु' ही बने रहना चाहते हैं, और कलाकार और समाज के बीच किसी सक्रिय सामंजस्य का अनुमान नहीं कर पाते।

उनकी विचार-शैली यह है कि पहले वे किसी पाश्चात्य लेखक से ली गयी उक्ति को एक सूत्र के रूप में उपस्थित करते हैं, फिर उसकी मनगढ़न्त व्याख्या जोड़ते हैं। उनका यह अनुमान है कि उनके ये सूत्र पाठकों को 'चौंका' करके सतर्क बना देते हैं। कदाचित् अपने विलक्षण और अभूतपूर्व चमत्कार के कारण! यह बात सच न हो, परन्तु उनका यह दिखावटी भय वस्तुतः सच है कि उनकी स्थापनाओं में 'अतिव्याप्ति' दोष रहता है। यदि ऐसा नहीं है तो इस विनयशीलता के उपक्रम को क्या आत्मश्लाघा की ही प्रच्छन्न व्यंजना नहीं कहेंगे?

अज्ञेय और उनकी विचारधारा के आलोचक हिन्दी में 'फूहड़ अथवा कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' (Vulgar Psychology) का प्रतिपादन कर रहे हैं। 'फूहड़ या कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' से मेरा तात्पर्य उस प्रवृत्ति से है जो मनोविज्ञान की मान्यताओं को साहित्य पर ज्यों का त्यों घटित करती है। इसका परिणाम यह होता है कि

इससे साहित्य का मूल्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के दृष्टान्त रूप में ही अवशेष रह जाता है और साहित्य या कला अपनी मानव-मूल्य निरूपिणी इयत्ता खो देती है। अज्ञेय के अनुसार जिस 'मन' से साहित्य उद्भूत् होता है उसकी धातु [Quality] की 'परख' करना आलोचक का प्रमुख कर्तव्य है। परन्तु यह कार्य एक मनोवैज्ञानिक का है, आलोचक का नहीं। आलोचक अधिक से अधिक कला की 'सृजनात्मक प्रक्रिया' [Creative Process] का अध्ययन-निर्धारण करता है, और यह कार्य कोरा मनोवैज्ञानिक नहीं है।

इलाचन्द्र जोशी इस 'फूहड़ या कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' की पराकाष्ठा तक पहुँचने में कटिबद्ध दीखते हैं। उनके सारे उपन्यासों में, विशेषकर 'प्रेत और छाया' में इस प्रवृत्ति की अश्लील झाँकी देखने को मिलती है। इलाचन्द्र जोशी में अज्ञेय के समान एक सुसंस्कृत कला-मर्मज्ञ का आत्मसंयम और परिष्कार नहीं है। अतः वे प्रगतिवाद के विरुद्ध जिस उतावलेपन के साथ अपने 'अन्तर्प्रगतिवाद' (?) का प्रचार कर रहे हैं, वह साहित्य में मन-विश्लेषकों द्वारा सिद्ध 'अवचेतन' मन में स्थित काम और हिंसा सम्बन्धी पशु-प्रवृत्तियों की नग्न और अनियंत्रित अभिव्यंजना के आग्रह के अतिरिक्त और कोई सौन्दर्य-मूल्य (!) नहीं रखता।

साहित्यालोचन की तीसरी विचारधारा प्रगतिवाद है। गत दस वर्षों से यह विचारधारा न केवल अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय रही है, वरन् उसने हिन्दी के रचनात्मक साहित्य को भी नयी अभिव्यक्ति और विचार-वस्तु दी है। मुझे यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है कि प्रगतिवाद की विचारधारा मूलतः मार्क्सवादी दर्शन 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' और मार्क्सवादी समाज-विज्ञान 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' से प्रभावित है। प्रगतिवाद से जिनका दृष्टि-साम्य नहीं है, ऐसे विचारक भी बहुधा इतना तो स्वीकार करते ही हैं कि प्रगतिवाद ने साहित्य में एक नयी जागरूकता उत्पन्न की है और साहित्य और कला को

जन-जीवन की वास्तविकता की अभिव्यक्ति का सचेत साधन बनने की प्रेरणा दी है।

प्रगतिवाद और उससे प्रेरित साहित्य यदि कोरा सामयिक साहित्यक आन्दोलन है तो साहित्य की दृष्टि से उसका मूल्य नगण्य है, वह अधिक से अधिक एक फैशन है अन्यथा जिस प्रकार राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संकट या संघर्ष-काल में जनता की किसी जागरूक पार्टी या सरकार की ओर से अपील सम्बन्धी प्रचार-साहित्य लिखाया जाता है, जिसे 'Wartime Literature' के समान ही किसी विशेष परिस्थिति, घटना या संघर्ष से सम्बद्ध किये बिना सहज रूप से 'साहित्य' की संज्ञा देना असम्भव होता है उसी प्रकार प्रगतिवाद की विचारधारा भी उन्हीं परिस्थिति-जन्य अपीलों के समान है। ये अपीलें हमारे लिए साहित्य की प्राचीन परम्पराओं और प्रभावों का वैज्ञानिक मूल्याङ्कन नहीं करतीं कि हमें नयी अन्तर्दृष्टि मिले। उदाहरण के लिए रूसो और वाल्तेयर ने अथवा आधुनिक काल में ही गोर्की ने फ्रान्स और रूस की क्रान्तियों के अवसर पर तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनाएँ की या आयर्लैण्ड की क्रान्ति के अवसर पर शेली ने जो अपीलें छपा करके बाँटीं उनका आज कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा। इतिहास से और भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु इन अपीलों और रचनाओं की सामयिक आवश्यकता और उनका महत्व स्वीकार करने के पश्चात् भी इस निर्णय से छुटकारा नहीं मिल सकता कि यदि प्रगतिवाद और उससे प्रेरित साहित्य केवल परिस्थिति-जन्य आन्दोलन है तो उसका साहित्यिक-मूल्य नगण्य है और वहाँ पर वह विचारधारा विचारणीय नहीं हो सकती। विचारणीय वह तभी हो सकती है जब साहित्य के मूल्यांकन में उसकी स्थापनाएँ न्यूनाधिक मात्रा में उपयोगी हों। अर्थात् जब प्रगतिवाद में कोई सौन्दर्य-निरूपक दृष्टिकोण उपलब्धि भी हो और वह प्रयोग-सिद्ध भी हो सके।

प्रगतिवादी समीक्षकों में साहित्य के 'कला-पक्ष' और 'सामाजिक-पक्ष' के सम्बन्ध में एक द्वैतभावना बनी हुई थी और वे इस बात का निर्णय न कर पाते थे कि किसी रचना में इन दोनों तत्वों का समावेश किस मात्रा और अनुपात में होता है, अथवा उनमें किसका आत्यंतिक महत्व है। इस विकृत यांत्रिकता का ही परिणाम था कि प्रगतिवादी आलोचना ने व्यवहारतः किसी रचना मे व्यक्त विचारों को ही उस रचना के साहित्यिक मूल्य की कसौटी मान लिया। और स्वयं कवि पंत ने भी—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।

प्रश्न करके इस द्वैत-भावना को अपनी एक कविता में उदात्त अभिव्यक्ति दे दी थी।

गत वर्षों में जिन लोगो ने प्रगतिवाद की विचारधारा को सामयिकता और राजनीतिक-प्रचार की सीमा में बाँध कर साहित्य की कसौटी को अवसरवादी बनाने की चेष्टा की है, वह अनायास और अकारण ही नहीं। ये लोग वास्तव में उस द्वैत-भावना से आक्रान्त हैं जिसका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ और चूँकि वे साहित्य के प्रश्नों पर गम्भीरतापूर्वक सोचने में अक्षम हैं अतः सरल समाधानो की ओर वेतहाशा दौड़ते हैं। ऐसी स्थिति में यह आश्चर्य-जनक नहीं है कि इन कथित प्रगतिवादियों की आलोचना-दृष्टि पथ-भ्रष्ट होकर मात्र सापेक्षता मूलक सामाजिक दृष्टि (Relativist Sociology) या 'फूहड़ और कुत्सित समाजशास्त्रीयता (Vulgar Sociology) की सीमा में ही सिमट-सिकुड़ कर रह गयी है। और अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने के लिए (अर्थात् अपने उद्धार के लिए) वह सार-संचय की भावना (eclecticism) का दामन पकड़ कर प्रभाववाद, रुचि-वैचित्र्यवाद, रसवाद, व्यंजनावाद, यहाँ तक कि

राष्ट्रीय अवसरवाद (chauvinism) जैसी हीन प्रवृत्ति तक का आधार खोजती फिरती है।

उदाहरण के लिए : डा० रामविलास शर्मा ने शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय, यशपाल के उपन्यास 'देश द्रोही', नगेन्द्र के निबंध-संग्रह 'विचार और अनुभूति' आदि पर जो आलोचनाएँ लिखी हैं, उनमें व्यक्तिगत राजनीतिक रुचि और सामंती संस्कार-गत पूर्वाग्रह के साथ कटूक्तियों, विद्रूपों और उपदेशों को ही मूल्य-निरुपण का साधन बनाया है। उनकी 'तुलसीदास', 'आदि-काव्य' और 'भारतेन्दु कालीन साहित्य' की आलोचनाएं 'वे अपने काल में प्रगतिशील थे' इस सापेक्षता मूलक तर्क-प्रणाली का उदाहरण हैं। अमृतराय ने अपने निबंध 'मार्क्सवादी आलोचना का आधार' में अपने दृष्टिकोण की विसंगतियों और अधकचरेपन के कारण आश्रय की खोज में साम-दाम दंड-भेद की पौराणिक नीति के अनुसार आग्रह-दुराग्रह, उपदेश, आदेश और फटकारों की असंयत झड़ी भी लगायी है और अन्त में मार्क्सवाद की अज्ञानता के कारण कोई समन्वित साहित्य-सिद्धान्त प्रतिपादित करने में अपने को असमर्थ पाकर "विजयी विश्व तिरंगा प्यारा.........को श्रेष्ठ साहित्य न कहने की धृष्टता कौन करेगा ?" इस प्रकार की कटूक्तियां द्वारा राष्ट्रीय अवसरवादिता [Chauvinism] को ही साहित्य के मूल्य-निरुपण का चरम सिद्धान्त मान लिया है। इन लेखकों और 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' के दल के अनेक कथित प्रगतिवादी लेखकों की आलोचनाओं में से ऐसे अगणित उदाहरण दिये जा सकते हैं क्योंकि वे जब प्राचीन लेखकों के सम्बन्ध में लिखते हैं तब उनके मापदण्ड कुछ होते हैं, जब जीवित लेखकों के संबंध में लिखते हैं तब कुछ और, और फिर लेखक-दर-लेखक ये मानदंड बदलते जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश की तीव्र गति से बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति के साथ साथ भी इन माप-दंडों को बदलना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि एक लेखक कल तक

प्रतिक्रियावादी था, आज किसी विशेष घटना के बारे में एक तुच्छ रचना करके तुरंत प्रगतिशील बन जाता है, दूसरा लेखक जो कल तक युग-प्रवर्तक और प्रगतिशील था, इनकी दृष्टि से एक प्रतिकूल रचना करके या केवल बातचीत में ही प्रतिकूल विचार प्रकट करके युग-विध्वंसक और प्रतिक्रियावादी बन जाता है।

कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का दृष्टिकोण प्रगतिवाद का दृष्टिकोण नहीं है, इस सम्बन्ध में मैं स्वयं सन् १६४१ के एक निबन्ध 'प्रगतिवाद'* में अपने विचार प्रकट कर चुका हूँ। इस स्थल पर पाठकों की सुविधा के लिये उक्त निबंध में से प्रासंगिक उद्धरण देना सामयिक महत्व का होगा। साहित्य के मूल्यांकन में सामाजिक प्रभावों के विवेचन की अनिवार्यता क्यों है इसका विवेचन करते हुए मैंने लिखा था:—

"अतः प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रों को प्रकाश में लाता है अर्थात् उन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है जिन्होंने लेखक को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती परिस्थितियों पर पड़े प्रभावों का भी मूल्यांकन करता है। सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन जिस प्रकार लेखक की रचना, उसकी अभिव्यक्ति के विशेष उपकरणों—व्यंग, प्रतीक, उपमाएँ, रूपक और शैली आदि—की सामाजिक पृष्ठ-भूमि का दिग्दर्शन कराता है, अर्थात् इस तथ्य का स्पष्टी-करण करता है कि लेखक की रचना में समाज की वास्तविकता किस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई है, उसी प्रकार वह परिवर्तित सामाजिक वास्तविकता की अपेक्षा में रख कर उसकी सौन्दर्य-शक्ति का भी मूल्याङ्कन करता है। साहित्य या कला की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब-मात्र नहीं होती, जिस प्रकार आईनें में पड़ा प्रतिबिम्ब होता है, बल्कि वह समाज या मनुष्य के अहं (भावचेतना) का परिवर्तित परिस्थितियों में

---

* देखिए लेखक का निबन्ध-संग्रह 'प्रगतिवाद', पृष्ठ ५-६

भिन्न-भिन्न प्रभाव डाल कर परिष्कार भी करती रहती है, अर्थात् उसे बदलती रहती है। इसी कारण उस रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है। इस सिद्धान्त को हृदयंगम करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा एकांगी दृष्टिकोण अन्त में आदर्शवाद का, जिसके अनुसार साहित्य या कला का सौन्दर्य-तत्व एक निरपेक्ष गुण बन जाता है, अथवा कुत्सित समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण (यांत्रिक भौतिकवाद) का, जिसके अनुसार किसी रचना का सौंदर्य या मूल्य सामाजिक वास्तविकता के सीधे स्पष्ट चित्रण पर ही निर्भर करता है, आखेट बन जाता है—और न यह प्रगतिवाद है, न वैज्ञानिक भौतिकवाद। मार्क्स ने भी इन दोनों दृष्टियों से एक साथ ही किसी रचना का विवेचन करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया था। प्रगतिवादी समीक्षा के सामने केवल यही प्रश्न नहीं रहता कि अमुक रचना किसी युग की उपज है, सामंती या पूंजीवादी, मार्क्स ने ग्रीक साहित्य पर विचार करते हुए स्पष्ट कहा है कि यह तो अपेक्षाकृत सरल कार्य है—बल्कि उसके सम्मुख यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक रचना की सौन्दर्य-शक्ति का क्या कारण है, अर्थात यह रचना आज भी क्यों सौन्दर्य-बोध कराने में सफल है, आज भी वह हमारे रागों को जगाने में, हमारे संवेदनों को झंकृत करने में क्यों उतनी ही सशक्त है जितनी शताब्दियों पूर्व थी। प्रगतिवाद इन दोनों मौलिक प्रश्नों का उत्तर किसी रचना की सामाजिक पृष्ठ-भूमि और सामाजिक जीवन पर पड़े उसके प्रभाव के इतिहास का विवेचन करके देता है।"

साहित्यालोचन को प्रथम बार प्रगतिवाद ने एक वैज्ञानिक जीवन-दर्शन का आधार दिया है, जिससे हमें साहित्य को सामाजिक-क्रिया का एक विशिष्ट पर अभिन्न अंग समझने में सुविधा हुई है। इससे 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है', या 'काव्य रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करता है' या 'साहित्य समाज का दर्पण है' या 'साहित्य

जीवन की आलोचना है' आदि भारतीय तथा पाश्चात्य मात्र कलावादी और यथार्थवादी व्याख्याओं से कहीं अधिक व्यापक साहित्य की व्याख्या प्रगतिवाद ने की है। प्रगतिवादी व्याख्या के अनुसार कला या साहित्य वस्तु-सत्य (जिसमें व्यक्तिगत और समाजगत, भौतिक और मानसिक, अन्तर और वाह्य सत्य के दोनों अङ्ग द्वन्द्वात्मक रूप से विभिन्न अनुपातों में सम्मिलित रहते हैं) के किसी अंग को अनुभव के रूप में प्रतिबिम्बित करता है और यह प्रतिबिम्ब सक्रिय और गत्यात्मक होता है। साहित्य की प्रेषणीयता का प्रश्न तो आनुषंगिक है अर्थात् रूप में विचारणीय है कि वस्तुगत के किसी अंग का अनुभव कला में किस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है कि वह प्रेषणीय बन जाता है। प्रगतिवाद अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार ही इसकी अवधारणा करता है और यह सिद्ध करता है कि विशेष या सापेक्ष सत्य—जो व्यक्तिगत, समाजगत, वर्गगत या परम्परागत हो सकता है—और निरपेक्ष सत्य—जो सम्पूर्ण जीवन की चिरन्तनता का सत्य है—दोनों की द्वन्द्वजनित परस्परिता और अन्विति के द्वारा ही विशेष सामान्य बनता है और सामान्य एक नूतन सामञ्जस्य पाकर विशेष बनता है। इसी विशेष और सामान्य की द्वन्द्वात्मक अन्विति से सौन्दर्य और जीवन के मूल्य बनते हैं, जिसके कारण मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कला और साहित्य का इतना आत्यन्तिक और स्थायी महत्व है। कला और साहित्य का यह महत्व नष्ट हो जाय यदि अपनी सीमा के अन्दर उसके विकास-क्रम की गति स्वतन्त्र न हो, अर्थात् साहित्य का अपना इतिहास न हो और वह केवल वाह्य परिस्थितियों (या कहें सामयिक रुचियों) के अनुसार ही प्रतिक्षण अपना रूप-रङ्ग बदलता रहे। जहाँ यह सत्य है कि वाह्य परिस्थितियों से साहित्य अनेक स्वस्थ और अस्वस्थ प्रभाव ग्रहण करता है, वहाँ यह भी उतना ही सत्य है कि ये प्रभाव साहित्य की ऐतिहासिक परम्पराओं के माध्यम से जीवन के अगणित सम्बन्धों को ग्रहण करके ही

व्यक्त होते हैं और इस प्रकार एक ओर वे साहित्य की परम्परा को बदलते हैं तो दूसरी ओर साहित्य के इतिहास की तारतम्यता और सम्बद्धता को पुष्ट करते हैं। कलावादी यदि पहले सत्य से इन्कार करते हैं तो कुत्सित समाजशास्त्रीयता का दल सत्य के दूसरे पहलू से आँखें मींच लेता है। प्रगतिवाद दोनों के दृष्टिकोण को एकपक्षीय और एकाङ्गी समझता है। प्रगतिवाद की ये कतिपय स्थापनाएँ महत्वपूर्ण हैं।

किसी समीक्षा-सिद्धान्त और पद्धति की सार्थकता मुख्यतः दो प्रश्नों के उत्तर पर निर्भर करती है। पहला प्रश्न यह कि क्या वह आधुनिक साहित्य (जिनमें समकालीन साहित्य भी सम्मिलित है) का सही मूल्यांकन कर सकती है, अर्थात् क्या वह आधुनिक और समकालीन साहित्य में जो सामयिक रुचि और फैशन (राजनीतिक अथवा अन्य) के अनुसार वास्तविकता का स्थूल और उथला परन्तु महत्वपूर्ण चित्रण है और वह जिसमें आधुनिक जीवन की वास्तविकता का इतना गहरा और व्यापक चित्रण हुआ है कि उसमें स्थायित्व के तत्त्व मौजूद हैं, इन दोनों को अलग करके बता सकती है और साहित्य-कृति के विवेचन से उसमें उठायी समस्या का उथला और गहरा रूप सिद्ध कर सकती है? यह कार्य अत्यन्त कठिन है, क्योंकि वर्तमान में हमारी दृष्टि बहुत संकुचित और सीमित रहती है—वस्तुएँ, घटनाएँ, भावनाएँ, राग-द्वेष अपनी अति निकटता के कारण सारे दृष्टि पट पर छा जाते हैं और निर्णेता स्वयं व्यक्तिगत या सामाजिक रूप से इन घटनाओं या भावनाओं से अपने को निर्लिप्त और निस्संग नहीं रख सकता; अतः जो उसे महत्वपूर्ण लगता है वही यथार्थ और सुन्दर भी लग सकता है। परन्तु इस कठिनाई के बावजूद समालोचक, पाठक या द्रष्टा केवल अपने जीवन-काल के साहित्य के ही उन समस्त व्यक्तिगत और सामाजिक स्तों, प्रभावों और प्रेरणाओं से लगभग पूरी तरह अवगत हो सकता है जिन्होंने उस साहित्य के सृजन में योग दिया है और उनका

सही मूल्यांकन करके साहित्य की गति-विधि को प्रगति और सौन्दर्य देने में सहायक बन सकता है। अतः कोई भी समीक्षा-सिद्धान्त आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन के प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकता।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या वह प्राचीन साहित्य (बीते काल में रचे गये साहित्य) का सही मूल्यांकन कर सकती है? प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में यह प्रश्न गौण है कि अमुक रचना में स्थायित्व के गुण हैं अथवा नहीं हैं। इस प्रश्न का उत्तर तो समय ही दे चुका होता है। कालिदास को महान लेखक और उनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य सिद्ध करने की चेष्टा निरर्थक है। परन्तु इस रहस्य का उद्‌घाटन करना अथवा उन तत्वों की व्याख्या करना अवश्य सार्थक प्रयत्न है, जिनके कारण कालिदास की रचनाएँ आज भी हमें सौंदर्य-बोध कराने में समर्थ हैं। 'आज भी हमें' से तात्पर्य आधुनिक काल की भाव-चेतना, संस्कार और परिस्थिति की अपेक्षा से है। इन तत्वों की व्याख्या का परिणाम निश्चय ही यह होगा कि आलोचक आधुनिक चेतना के अनुरूप कालिदास की सर्वांग पुनर्सृष्टि करे। प्राचीन इसी प्रकार वर्तमान में अपने को पुनर्जीवित करता चलता है। इसी कारण इस मूल्यांकन में कालिदास के समकालीन समाज और उनके साहित्य पर पड़े अन्य प्रभावों के साथ साथ उनकी कृतियों द्वारा परवर्ती समाज और साहित्य पर पड़े प्रभावों का विश्लेषण भी उतना ही आवश्यक है। तभी हम इन अगणित प्रभावों के सम्बन्ध-सूत्रों को एकत्र कर उनकी शृङ्खला को ऐतिहासिक-क्रम में सँजोकर कालिदास को आधुनिक वस्तु-सत्य की शृङ्खला से जोड़कर उनको सम्पूर्ण रूप से अपने लिये बोधगम्य बना सकते हैं, अर्थात् उनके कार्य के पूरे मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। अन्यथा कालिदास की महत्ता की स्वीकारोक्ति मौखिक ही बनी रहेगी। अतः कोई भी समीक्षा सिद्धांत प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकता।

निस्संदेह मनोवैज्ञानिक विचारधारा या कुत्सित समाजशास्त्रीयता,

दोनों ही इस दृष्टि से एकांगी हैं। मनोवैज्ञानिक विचारधारा की समीक्षा की अन्तर्दृष्टि केवल आधुनिक और सामयिक साहित्य तक ही सीमित है, क्योंकि अधिक से अधिक आधुनिक लेखकों का ही मनो-वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है, यद्यपि उसमें सामाजिक जीवन (वाह्य) के प्रभाव एक प्रकार से फिर भी छूट जाते हैं। प्राचीन साहि य के मूल्यांकन में उसकी गति नहीं के बराबर है, और यदि कभी इसका प्रयत्न किया गया है तो हास्यास्पद परिणाम निकले हैं। इसी प्रकार कुत्सित समाजशास्त्रीयता केवल प्राचीन लेखकों का ही एक सीमा तक सही मूल्यांकन कर पाती है, यद्यपि इसमें भी अपने दृष्टिकोण की यान्त्रि कता के कारण वह लेखकों को इस वर्ग या उस वर्ग का लेखक सिद्ध करने की समस्या से ही अधिक जूझती है और अवसर के अनुकूल कति-पय पंक्तियों के आधार पर ही उन्हें प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी सिद्ध करती रहती है। आधुनिक साहित्य का मूल्यांकन करने में वह नितान्त असमर्थ है, क्यों कि वह किसी रचना के सामयिक महत्व को ही उसके स्थायी सौन्दर्य का पर्य्यायवाची स्वीकार करती आयी है। वस्तुतः मनो-वैज्ञानिक विचारधारा की रुचि उस उत्सुक अधेड़ स्त्री के समान है जो दरवाज़े के सूराख में से झाँक कर किसी दम्पति के एकान्त व्यवहार को ही उनका सार्वजनिक और सामान्य व्यवहार घोषित करती फिरती है और कुत्सित समाजशास्त्रीयता का दृष्टिकोण उस जासूस का सा है जो किसी व्यक्ति के पीछे छाया की तरह लग कर यह नोट करता जाये कि वह किससे मिला, किसके यहाँ खाना खाया, किससे रुपये माँग कर लाया और बाज़ार से क्या खरीद कर लाया और फिर इसके आधार पर उस व्यक्ति के चरित्र पर एक रिपोर्ट तैयार करदे और फिर उसे इस तरह या उस तरह व्यवहार करने का आदेश दे। लेखकों के व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन के बारे में दोनों विचारधाराओं की जिज्ञासा एक ही समान की है, यद्यपि उनकी मात्रा और दिशाओं में भेद है।

मार्क्सवाद यदि साहित्य का नया दृष्टिकोण है तो इसका तात्पर्य

यह कदापि नहीं है कि समीक्षक साहित्यकार को कला-वस्तु या कला-रूप सम्बन्धी निर्देश दे। कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है, उसकी सृजन-चेष्टा वाह्य-जीवन के अनुभव और सौन्दर्य-मूलक प्रवृत्ति अर्थात् व्यवस्था, सामञ्जस्य और मुक्तिकामी निसर्ग-चेष्टा से उत्प्रेरित होती है। कलाकृति मनुष्य के अनुभव और चेतना को अधिक व्यापक और गहरा बनाती है और इस प्रकार अधिक समन्वित मानव-मूल्यों का निर्माण करती है। अपने संस्कृति-विधायक रूप में कला या साहित्य भी स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अतः एक कलाकार या उसकी कृति को 'प्रगतिवादी' होना जरूरी नहीं है, अर्थात् यह जरूरी नहीं है कि कलाकार प्रगतिवाद के सिद्धान्त को सामने रखकर रचना करे और अपनी रचना को उनका दृष्टान्त बनादे। ऐसा करना 'प्रेत और छाया' की प्रगतिवादी प्रतिकृति तैयार करना होगा।

चौथी आलोचना-पद्धति को हम व्यञ्जनावादी या प्रभाववादी कह सकते हैं। यह केवल एक पद्धति है विचारधारा नहीं, अतः साहित्य-समीक्षा के व्यापक सिद्धान्तों का निरूपण करना इस पद्धति की कार्य-सीमा से बाहर की वस्तु है। इस पद्धति में आलोचक-विशेष की रुचि के अनुसार प्रायः पूर्वोक्त तीनों विचारधाराओं के मिले जुले सिद्धान्त प्रयोग में आते हैं। यह पद्धति आलोचना को विज्ञान की सीमा से हटाकर उसे कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप देने का प्रयत्न करती है और इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की आलोचनाएँ सुपाठ्य और चमत्कारपूर्ण होती हैं। उनमें भाषा का सौष्ठव, अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता और कोमलता भी रहती है और यत्र-तत्र साहित्य और कला के सम्बन्ध में विलक्षण रूप से मार्मिक सुझाव और निष्कर्ष भी रहते हैं। परन्तु यह सब अन्य विचारधाराओं के असम्बद्ध प्रभावों के रूप में ही यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। मूल्याङ्कन के कोई मौलिक प्रतिमान इस पद्धति के आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र या शान्तिप्रिय द्विवेदी ने निर्दिष्ट नहीं किये। वे यदा-कदा सार-सञ्चय की भावना से (eclect

ically) विभिन्न विचारधाराओं के समन्वय की ओर उन्मुख हुए हैं, परन्तु इसका मूल्य अधिक नहीं है। अतः इस पद्धति का विस्तृत विवेचन अनावश्यक है।

हिन्दी-आलोचना की विभिन्न विचारधाराओं और पद्धतियों के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि वे सभी किसी न किसी रूप में एकांगी हैं। अपनी संकुचित दृष्टि को लेकर प्राचीन समीक्षा-शास्त्र ही एक सीमा तक सम्पूर्ण कहा जा सकता है, परन्तु साहित्य के मूल्यांकन का व्यापक प्रश्न उससे अछूता ही रह जाता है। हमारे लिए इस दृष्टि ने मनोविज्ञान और कुत्सित-समाजशास्त्रीयता रहित प्रगतिवाद के दृष्टिकोण ही महत्वपूर्ण हैं। मनोविज्ञान ने व्यक्तिगत दृष्टि से साहित्य के मूल्यों का निरूपण करने की चेष्टा की है। और प्रगतिवाद, जिसे यद्यपि निसर्गतः मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दृष्टिकोणों का समन्वित दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहिये था, अनेक कारणों से अभी तक साहित्य के संविधायक पक्ष पर ज़ोर देकर उसके केवल सामाजिक मूल्यों का ही निर्धारण कर पाया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण साहित्य की प्रतीकवादी धारा का प्रतिनिधित्व कर रहा है तो प्रगतिवाद यथार्थवादी धारा का। समालोचक इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दे रहे कि वस्तुतः दोनों धाराएँ एक दूसरे की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुई हैं और इसी कारण एक दूसरे की पूरक भी हैं। ये वस्तु-सत्य की एकांगी अभिव्यक्ति ही करती हैं। और ये दोनों मनुष्य के सम्पूर्ण—अन्तर और बाह्य—जीवन की अभिव्यक्ति में अलग अलग से योग दे रही हैं। और जिस प्रकार अधिक व्यापक चेतना प्राप्त रचनाकार यथार्थवाद की स्थूल फ़ोटोग्राफ़िक, यान्त्रिक भौतिकवाद की कठोर कार्य-कारण पद्धति त्याग कर आधुनिक ज्ञान के आधार पर जीवन को एक निरंतर-प्रवाह (Process) के रूप में ग्रहण करके साहित्य में मनुष्य के सामाजिक जीवन के संघर्षमय अनुभव के साथ साथ उसके व्यक्तिगत (मनोवैज्ञानिक) संघर्ष की

अनुभूतियों का सामंजस्य 'सामाजिक यथार्थवाद' अथवा 'रोमान्टिक यथार्थवाद' की शैली के रूप में करने की चेष्टा कर रहे हैं, अर्थात् मनुष्य के सम्पूर्ण-जीवन को साहित्य में प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उसी प्रकार क्लासिसिज़्म और रोमान्टिसिज़्म या यथार्थवाद और प्रतीकवाद के समीक्षा-सिद्धान्तों की तरह ही प्रगतिवाद को केवल मूल्यांकन का एकांगी दृष्टिकोण ही बन कर नहीं रह जाना चाहिए बल्कि अपने प्रारम्भिक दावे के अनुसार इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वित रूप उपस्थित करना चाहिए, अन्यथा वह एक विशेष प्रकार के साहित्य का ही मूल्यांकन करने में समर्थ हो सकेगा, और दूसरी प्रकार के उच्चकोटि के और महत्वपूर्ण साहित्य की अवहेलना करता जायगा। परन्तु इनका समन्वय इस रूप में असंभव होगा कि दोनों के सार-भाग का एक समुच्चय तैयार कर दिया जाय, जैसा कि कई लेखकों ने यदाकदा सुझाया है। समुच्चय समन्विति नहीं है। समन्विति किसी दार्शनिक विचार—संयोजक-सूत्र में गुँथ कर ही संभव है। प्रगतिवाद की विशेषता यही है कि उसने साहित्यालोचन को एक व्यापक जीवन-दर्शन का आधार दिया है।

हर प्रकार की आलोचनात्मक क्रिया मूलतः दार्शनिक होती है, क्योंकि वह वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध-सूत्रों का उद्घाटन और निरूपण करती है। साहित्यालोचक भी किसी कलाकृति और सम्पूर्ण मानव-जीवन के परस्पर सम्बन्ध का निर्णय करता है और इस सम्बन्ध का स्वरूप ही उस कलाकृति के मूल्य का स्वभाव, गुण और अनुपात निश्चित करता है।

आलोचना और दर्शन का सम्बन्ध इस स्थूल बात से भी प्रकट है कि पाश्चात्य दार्शनिक अफ़लातून से लेकर अरस्तू, संत टामस, स्पिनोज़ा, कांट, हीगल, शोपनहॉयर, मार्क्स, ह्यूम, मिल, नीत्शे, क्रोचे, जॉन डीवी आदि प्राचीन और आधुनिक दार्शनिकों की कला-साहित्य विषयक स्थापनाएँ साहित्य-समीक्षा के सिद्धान्तों का प्रायः आधार बनती

आयी है, केवल इधर स्वच्छन्दतावादी [रोमान्टिसिज़्म] की धारा के युग में आलोचना और दर्शन का सम्बन्ध एक प्रकार से टूट-सा गया था, परन्तु इस सम्बन्ध को पुनः स्थापित करने की अनिवार्यता प्रतीत हुई है। कारण स्पष्ट है। आलोचक एक निर्णेता है, उसका निर्णय उस समय तक एकांगी और त्रुटिपूर्ण रहेगा जब तक कि वह निर्णय उन सभी निर्णयों से प्रसगति नहीं रखता जो जीवन की अन्य क्रियाओं द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं अर्थात् जो सम्पूर्ण जीवन की अपेक्षा में प्रसंगत नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति और समाज के लिए कला और साहित्य का क्या प्रयोजन, उपयोग और मूल्य है —एक विशिष्ट, स्थायी और महत्वपूर्ण मानव-क्रिया के रूप में इसके प्रतिमानों का निर्धारण किया जाय जिससे प्राचीन और आधुनिक साहित्य के ऐतिहासिक और विशेष रचनागत मूल्यों का आकलन हो सके। तभी साहित्य-समीक्षा एक विज्ञान—स्वतन्त्र विज्ञान बन सकेगी। परन्तु यह तभी संभव है—इस तथ्य की पुनरावृत्ति आवश्यक है—जब साहित्य के मूल्यों का निर्णय अन्य सभी निर्णयों से प्रसंगत तथा सम्बद्ध हो। अर्थात् जब एक विज्ञान के रूप में आलोचना अपने सजातीय अन्य विज्ञानों की उन गवेषणाओं और तथ्य-निरूपिणी सामान्य स्थापनाओं से परिचित हो जो कम से कम संस्कृति, साहित्य और कला के प्रश्नों से सम्बन्ध रखती हैं। तभी अपनी नयी द्वन्द्वात्मक विचार-पद्धति के अनुसार वह उनके निष्कर्षों की अपेक्षा में अपने निष्कर्षों की निष्पत्ति कर सकती है। ये सजातीय विज्ञान, आधुनिक मनोविज्ञान, सांस्कृतिक मानव-शास्त्र और इतिहास हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान से तात्पर्य केवल मनस्तत्त्व-विश्लेषण शास्त्र (Psycho-Analysis) से ही नहीं है और अधिकांश में इसकी वैज्ञानिकता भी संदिग्ध है। साहित्यालोचन की दृष्टि से 'व्यवहारवादी मनोविज्ञान' (Behaviorism), 'सामाजिक मनोविज्ञान' (Social Psycholgy) और 'आकृति-मूलक' या 'रूप-

समष्टिगत मनोविज्ञान' (Gestalt Psychology) आदि के अध्ययनों और निष्कर्षों का यथेष्ट मूल्य है। विशेषकर लुई रोजनब्लात्, लीविस मम्फोर्ड, मूलर फ्रायनफ़ेल्स और लिवियू रसू आदि विद्वानों ने साहित्यालोचन के लिए रचनात्मक प्रक्रिया (Creative Process) और आलोचनात्मक प्रक्रिया (Critical Process) की विवेचनात्मक समन्विति करके इन प्रक्रियाओं में 'अवचेतन', 'प्रेरणा', 'कल्पना', 'चेतना', 'सहानुभूति' आदि की क्रमानुगत भूमिका का जो निरूपण किया है और 'प्रेषणीयता' तथा अन्य आनुषंगिक प्रश्नों की जो पड़ताल की है, वह अत्यन्त उपयोगी है। निश्चय ही मनोविज्ञान ने व्यक्ति-सापेक्ष दृष्टि से कला के मूल्य स्थापित किये हैं, परन्तु इस कारण ही वे उपेक्षणीय नहीं हैं। विशेषकर 'रचनात्मक प्रक्रिया' का गहरा विवेचन करके मनोविज्ञान ने इस बात की संभावना उत्पन्न कर दी है कि पाठक और आलोचक एक कलाकार को अपनी अज्ञानतावश सर्वथा निराला, विशिष्ट अतः असामाजिक और विलक्षण व्यक्ति समझ कर उसे निरंतर अपनी उपेक्षा और विरुचि का शिकार नहीं बनाता जाये, बल्कि उसे अपनी व्यापक सहानुभूति प्रदान करे। इसके अतिरिक्त "कला व्यक्ति की आत्म-सिद्धि (Self-realization) की मौलिक प्रवृत्ति का परिणाम है"—मनोविज्ञान की इस स्थापना में निर्देशित 'आत्म-सिद्धि' सामाजिक-जीवन से क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संबंद्ध द्वारा नूतन संतुलन स्थापित करके ही प्राप्त हो सकती है—यह बात भी इन समन्वय चाहने वाले आलोचकों ने स्वीकार की है। और इसके लिये उन्होंने सांस्कृतिक मानव-शास्त्र [Cultural Anthropology] से मनोविज्ञान के संयोजक-सूत्र खोजे हैं।

मेलिनोव्स्की * के अनुसार सांस्कृतिक मानव-शास्त्र मनुष्य के प्राग-जीवन काल से लेकर अब तक के सम्पूर्ण सांस्कृतिक जीवन, संस्कृति

---

* Branislaw Malinowski : Culture [Encyclopaedia of Social Sciences]

के भौतिक उपकरण उसकी पुंजीभूत ज्ञान-राशि, उसकी रूढ़ि-प्रथाओं जिनके द्वारा आध्यात्मिक और आर्थिक मूल्य निरूपित होकर मनुष्य के सामाजिक जीवन का नियमन और निर्देशन करते हैं, और उसकी भाषा जो उन प्रतीकों और मूल्यों का अन्तःकोष है जिनके द्वारा मनुष्य के अनुभव को अनुक्रम और तारतम्यता मिलती है जिससे एक व्यक्ति अपने को अन्य व्यक्तियों के उस समूह के साथ सम्बन्धित करता है जो उसकी संस्कृति या परिवृत्ति का विधान रचते हैं, इन सब बातों का विशद अध्ययन करता है। इस प्रकार साहित्य और कला के मूल्य भी इस अध्ययन के अन्तर्गत आ जाते हैं। सांस्कृतिक मानव शास्त्र ने सांस्कृतिक युगों और उनके सांस्कृतिक प्रतीकों का गहरा अध्ययन करके साहित्य या कला की परम्परा और उसमें युग-सापेक्ष अथवा सामयिक प्रतीकों के प्रयोग का ऊहापोह विवेचन किया है।

अनेक विद्वानों ने मनोविज्ञान और सांस्कृतिक मानवशास्त्र दोनों की गवेषणाओं के आधार पर साहित्य के मूल्यांकन के प्रश्न को लेकर अपनी अपनी दृष्टि से समन्वितियाँ की हैं। इनमें से अमरीकी दार्शनिक जान डिवी[1], हर्बर्ट रीड[2] और डा० आई० ए० रिचार्ड्स[3] से तो हिन्दी पाठक भी थोड़ा-बहुत परिचित हैं। इनके अतिरिक्त सी० जैक्स बारज़ुन[4], एलिस केलिहर[5] और लुई रोज़नब्लाट[6], ये तीन नाम और उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों की स्थापनाओं का विवेचन

---

1 John Dewey: Art as Experience and Freedom and Culture: 2 Herbert Read: Art and Society. 3 I. A. Richards: Principles of Literary Criticism, Practical Criticism and Science and Poetry. 4. C. Jaqques Barzun: of Human Freedom, and Darwin, Marx, Wagner—Critique of a Heritage. 5. Alice Keliher: Life and Growth. 6. Louise Rosenblatt: Literature as Exploration.

करने का यह अवसर नहीं है। यहाँ केवल इतना निर्देश ही किया जा सकता है कि इन विद्वानों का दृष्टिकोण pragmatic दर्शन पर आधारित है, परन्तु साहित्य के मूल्यांकन के प्रश्न को इन्होंने अत्यन्त गम्भीरता से उठाया है और वैज्ञानिक समीक्षा-शास्त्र के लिए मार्ग प्रशस्त किया है।

एक साधारण चेतवानी देकर इस निबन्ध को समाप्त करना आवश्यक है। किसी एक विचारक के विचारों को हिन्दी पाठकों के सामने पटक करके यह दुराग्रह करना कि साहित्य यह है या वह है, उसका लक्ष्य, प्रयोजन, संविधायक कर्म या सौन्दर्य-मूल्य यह है या वह है, वैज्ञानिक आलोचना का दृष्टिकोण नहीं हो सकता। और न सार-संचयन की भावना से किया गया विभिन्न दृष्टिकोणों का बलात् संयोग ही समन्वय कहा जा सकता। इस चेतावनी की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि हिन्दी में इन दोनों प्रवृत्तियों का ज़ोर है। इससे किसी लेखक की अहंकार-तुष्टि भले हो जाय, साहित्य को अपेक्षाकृत हानि ही अधिक होती है। समन्वय अवश्य होना चाहिये—और मेरा विचार है कि प्रगतिवाद ने समन्वय के लिए व्यापक क्षेत्र तैयार किया है और उसमें समन्वित दृष्टिकोण के रूप में विकास करने की संभावनाएँ भी मौजूद है—परन्तु यह तभी संभव है जब विभिन्न विचार-धाराओं द्वारा निरूपित तथ्यों को कोई वैज्ञानिक जीवन-दर्शन की पद्धति एक सूत्र में बाँधे—अर्थात् द्वन्द्वात्मक पद्धति से ऐसा किया जाय। तभी एक सौन्दर्य-मूलक सामाजिक दृष्टिकोण [Social Aesthetic] का विकास किया जा सकेगा और साहित्य के मूल्यांकन की वैज्ञानिक पद्धति निर्धारित की जा सकेगी।

—:※:—

हिन्दी-साहित्य की परम्परा में जीवन-सत्य

साहित्य का समाज से, अर्थात् समाज का जीवन से, गहरा सम्बन्ध है, कम से कम इतनी बात तो सामान्य रूप से मानी जाती है। विवाद तभी उठ खड़ा होता है जब इस सम्बन्ध की सुनिश्चित रूप-रेखाएं निर्धारित की जाती हैं। साहित्य समाज का दर्पण है, या साहित्य जीवन की आलोचना है, या वह जीवन की वास्तविकता का कलात्मक प्रतिबिम्ब है, इन विवाद-ग्रस्त परिभाषाओं पर विचार न करके, हमारे लिए इतना स्वीकार कर लेना ही यथेष्ट होगा कि चाहे जिस प्रकार का साहित्य हो चाहे किसी जीवन-वृत्त को लेकर लिखा गया प्रबन्ध-काव्य हो, या नभ के तारों को लक्ष्य करके किसी गीति में अपने हृदय का अवसाद व्यक्त किया गया हो, या किसी हड़ताल का वर्णन करके न्याय की भावना को उभारा गया हो या बच्चों के लिए परियों की कहानी हो, दिन भर के काम से थके मांदे दफ्तर के बाबू के लिए 'माया' की कहानी या कोई जासूसी उपन्यास हो, या अतृप्त वासनाओं के कुंठित पर संवेदनशील नवयुवक के लिए 'शेखर एक जीवनी' जैसा उपन्यास हो, या वर्तमान जीवन में परिवर्तन की आकांक्षा रखने वाले चेतना-प्राप्त व्यक्ति के लिए प्रेमचन्द का 'गोदान' हो, उसमें जीवन के ही विविध अंगों की सुन्दर अथवा विकृत रूप में अभिव्यक्ति मिलती है। यदि इतना सत्य है तो हमें यह स्वीकार करने में भी कठिनाई न होगी कि साहित्य की परम्पराएं भी जीवन-सत्य की ही अभिव्यक्ति करती हैं।

परन्तु साथ ही यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि साहित्य की परम्पराएँ बनती कैसे हैं ? संभव है आपको यह बात मनोरंजक लगे कि जब मैं विद्यार्थी था और मैंने पहली बार हिंदी साहित्य का इतिहास पढ़ा तो मैं यह सोच करके हैरान रह गया कि साहित्य की हर परम्परा में कई पीढ़ियों के सैकड़ों कवि थोड़ा बहुत करके एक ही विषय पर पचास-सौ बरस तक एक सी ही कविताएं करते रहे। यह बात अवश्य थी कि किसी कवि में अधिक प्रतिभा थी, किसी में कम, जिससे उनके काव्य के धरातल में बड़ा अन्तर है, और यह भी सच है कि किसी एक परम्परा के सभी कवियों ने हमेशा एक ही छन्द सामान्य रूप से नहीं अपनाया तथा उनका शब्द विन्यास भी भिन्न है और रूपक-उपमाएँ भी निराली और कहां कहीं मौलिक हैं। यद्यपि इस दृष्टि से भी उनमें गहरा साम्य मिलता है और इसीसे रूपक, उपमा और प्रतीकों की परम्पराएँ भी बनी हैं, परन्तु इन बाह्य साम्यताओं और विभिन्नताओं के बावजूद साहित्य की इन परम्पराओं में एक दूसरे प्रकार का साम्य मिलता है जिसके कारण ही कोई रचना किसी परम्परा की कही जाती है। यह साम्य है उसकी आत्मा का, जिसको आधुनिक भाषा में काव्य की भाव-विचार वस्तु, या जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण कहेंगे। उस समय मेरे मन में बार बार यह प्रश्न उठा करता था कि यदि व्यक्तिवादी आलोचकों की बात सही मानी जाय कि 'कला कला के लिए' है औ. जीवन से उसका कोई संबंध नहीं है, तो फिर वीरगाथाएँ लिखने वाले, भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की रचना करने वाले अगणित कवियों के सामने ऐसी कौन-सी बाध्यता थी जो उन्होंने अपने काल की काव्य परम्परा के अनुसार ही काव्य-रचना की और ऐसे कवि इने गिने ही पैदा हुए जिन्होंने इन परम्पराओं से बाहर निकल कर कुछ लिखा हो ? हमारे सामने ही छायावादी परम्परा का अन्त हुआ है और प्रगतिवादी परम्परा का सूत्रपात हुआ है, और इन दोनों युगों की रचनाओं में भी अगणित कवियों में वैसा ही दृष्टि-साम्य

हिन्दी-साहित्य की परम्परा में जीवन-सत्य

साहित्य का समाज से, अर्थात् समाज का जीवन से, गहरा सम्बन्ध है, कम से कम इतनी बात तो सामान्य रूप से मानी जाती है। विवाद तभी उठ खड़ा होता है जब इस सम्बन्ध की सुनिश्चित रूप-रेखाएं निर्धारित की जाती हैं। साहित्य समाज का दर्पण है, या साहित्य जीवन की आलोचना है, या वह जीवन की वास्तविकता का कलात्मक प्रतिबिम्ब है, इन विवाद-ग्रस्त परिभाषाओं पर विचार न करके, हमारे लिए इतना स्वीकार कर लेना ही यथेष्ट होगा कि चाहे जिस प्रकार का साहित्य हो चाहे किसी जीवन-वृत्त को लेकर लिखा गया प्रबन्ध-काव्य हो, या नभ के तारों को लक्ष्य करके किसी गीति में अपने हृदय का अवसाद व्यक्त किया गया हो, या किसी हड़ताल का वर्णन करके न्याय की भावना को उभारा गया हो या बच्चों के लिए परियों की कहानी हो, दिन भर के काम से थके मांदे दफ़्तर के बाबू के लिए 'माया' की कहानी या कोई जासूसी उपन्यास हो, या अतृप्त वासनाओं के कुठित पर संवेदनशील नवयुवक के लिए 'शेखर एक जीवनी' जैसा उपन्यास हो, या वर्तमान जीवन में परिवर्तन की आकांक्षा रखने वाले चेतना-प्राप्त व्यक्ति के लिए प्रेमचन्द का 'गोदान' हो, उसमें जीवन के ही विविध अंगों की सुकृत अथवा विकृत रूप में अभिव्यक्ति मिलती है। यदि इतना स्पष्ट है तो हमें यह स्वीकार करने में भी कठिनाई न होगी कि साहित्य की परम्पराएं भी जीवन-सत्य की ही अभिव्यक्ति करती हैं।

परन्तु साथ ही यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक है कि साहित्य की परम्पराएँ बनती कैसे हैं? संभव है आपको यह बात मनोरंजक लगे कि जब मैं विद्यार्थी था और मैंने पहली बार हिंदी साहित्य का इतिहास पढ़ा तो मैं यह सोच करके हैरान रह गया कि साहित्य की हर परम्परा में कई पीढ़ियों के सैकड़ों कवि थोड़ा बहुत करके एक ही विषय पर पचास-सौ बरस तक एक सी ही कविताएं करते रहे। यह बात अवश्य थी कि किसी कवि में अधिक प्रतिभा थी, किसी में कम, जिससे उनके काव्य के धरातल में बड़ा अन्तर है, और यह भी सच है कि किसी एक परम्परा के सभी कवियों ने हमेशा एक ही छन्द सामान्य रूप से नहीं अपनाया तथा उनका शब्द विन्यास भी भिन्न है और रूपक-उपमाएँ भी निराली और कहीं कहीं मौलिक हैं। यद्यपि इस दृष्टि से भी उनमें गहरा साम्य मिलता है और इसीसे रूपक, उपमा और प्रतीकों की परम्पराएँ भी बनी हैं, परन्तु इन बाह्य साम्यताओं और विभिन्नताओं के बावजूद साहित्य की इन परम्पराओं में एक दूसरे प्रकार का साम्य मिलता है जिसके कारण ही कोई रचना किसी परम्परा की कही जाती है। यह साम्य है उसकी आत्मा का, जिसको आधुनिक भाषा में काव्य की भाव-विचार वस्तु, या जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण कहेंगे। उस समय मेरे मन में बार बार यह प्रश्न उठा करता था कि यदि व्यक्तिवादी आलोचकों की बात सही मानी जाय कि 'कला कला के लिए' है औ . जीवन से उसका कोई संबंध नहीं है, तो फिर वीरगाथाएँ लिखने वाले, भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की रचना करने वाले अगणित कवियों के सामने ऐसी कौन-सी बाध्यता थी जो उन्होंने अपने काल की काव्य परम्परा के अनुसार ही काव्य-रचना की और ऐसे कवि इने गिने ही पैदा हुए जिन्होंने इन परम्पराओं से बाहर निकल कर कुछ लिखा हो? हमारे सामने ही छायावादी परम्परा का अन्त हुआ है और प्रगतिवादी परम्परा का सूत्रपात हुआ है, और इन दोनों युगों की रचनाओं में भी अगणित कवियों में वैसा ही दृष्टि-साम्य

मिलता है। आखिर ऐसा क्यों होता है?

हमारी पहली स्थापना से ही इस प्रश्न का भी उत्तर निकलता है। साहित्य की परम्पराएँ केवल इस कारण बनती हैं कि साहित्य में किसी न किसी रूप में जीवन-सत्य की ही अभिव्यक्ति होती है। और चूँकि मनुष्य का जीवन, अर्थात् उसका रहन-सहन, उसके रस्म-रिवाज, उसके आचार-विचार, उसके न्याय और धर्म संबंधी विचार और उसकी नैतिकता और राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक संस्थाएँ दिन प्रति दिन परिवर्तित नहीं होती रहतीं, इस कारण इस चतुर्दिक वातावरण से प्रभावित मनुष्य के दृष्टि-कोण की साहित्य में जो अभिव्यक्ति होती है वह भी तब तक थोड़ा-बहुत करके अपने को दुहराती चलती है जब तक कि जीवन में कोई मौलिक परिवर्तन न हो गया हो या जबतक रूढ़ियों में जकड़े हुए समाज का विकास इस सीमा तक अवरुद्ध न हो गया हो कि लोग सामान्य रूप से मौलिक परिवर्तन की आकांक्षा करने लगे हों। इस प्रकार साहित्य की प्रत्येक परंपरा समाज के एक दीर्घकालीन अपेक्षाकृत स्थिर जीवन के सत्य को व्यक्त करती है। अतः किसी काल के सामाजिक जीवन का अध्ययन करने के लिए उस काल की साहित्य परंपरा से परिचित होना आवश्यक है।

हिन्दी-साहित्य की परम्पराओं में हिन्दी भाषी जनता के जीवन और उसकी विभिन्न भावनाओं की अभिव्यक्ति इतनी सुस्पष्ट और गहरी हुई है कि पाठक के आगे उसके जीवन के विकास क्रम का इतिहास अपने आप चित्रित हो जाता है।

हिन्दी काव्य में वीर-गाथाओं की परम्परा साहित्य की सबसे प्राचीन परम्परा है और लगभग तीन-चार सौ वर्षों तक कवियों ने इसी परम्परा के अंतर्गत प्रबन्ध काव्य या वीर-गीत लिखे। इन ग्रन्थों को 'रासो' कहते हैं। इस काल की थोड़ी ही रचनाएं प्राप्त हैं, परन्तु उसकी मुख्य-मुख्य रचनाओं, जैसे दलपतविजय का खुमान रासो, चंदबरदाई का पृथ्वीराज रासो या जगनिक का आल्हा खंड आदि का

अनुशीलन करें तो ज्ञात होगा कि इन वीर-गीतों और प्रबन्ध काव्यों में उस समय के राजाओं के पराक्रम, उनके विजय-युद्धों और शत्रु-कन्या-हरण का विस्तृत चित्रण हुआ है। यद्यपि इन रचनाओं में आजकल के उपन्यासों की तरह सामाजिक जीवन के हर स्तर और वर्ग का चित्रण नहीं हुआ है, और ऐसा संभव भी नहीं था क्योंकि राज दरबारों के चारण-भाटों से यही अपेक्षा की जाती थी कि वे राजाओं के पराक्रम और वीरता का गुण गान करेंगे और युद्ध के अवसर पर उन्हें उत्साह दिलायेंगे, परन्तु इससे यह बात स्पष्ट है कि उस समय देश में छोटे-बड़े अनेक राजा थे, जो एक दूसरे से लड़ते रहते थे और इस लड़ाई के दौरान में यदि मौका पाते थे तो एक दूसरे की लड़की या बहन का हरण करके विवाह कर लेते थे, अथवा केवल इतना जानना ही कि अमुक राजा के यहाँ एक सुन्दर लड़की है, युद्ध का बिगुल बजाने के लिए पर्याप्त कारण होता था। निश्चय ही उन दिनों दरबारों के जीवन में निश्चिन्तता का वातावरण नहीं हो सकता था। ऐसे समय में एक क्षत्रिय की नैतिकता क्या हो सकती है, आल्हा-खंड के निम्न पद से स्पष्ट व्यक्त होती है।

बारह बरिस लै कूकर जिएँ, औ तेरह लै जिएँ सियार।
बरिस अठारह छत्री जिएँ, आगे जीवन के धिक्कार॥

परन्तु इन वीर-गाथाओं की परम्परा देश में मुसलमानों की सत्ता स्थापित होते ही एक प्रकार से समाप्त हो गयी। लोगों की जीवन-धारा बदल चुकी थी, उस पर नए प्रभाव पड़े थे, नयी और अधिक बौद्धिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं, नयी चेतना जगी थी और जीवन के प्रति दृष्टिकोण में वस्तु स्थिति से सामंजस्य पाने के लिए परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। जीवन के व्यापक प्रश्नों पर सोचने के लिए जनता पहली बार बाध्य हुई थी, तब उसके ही बीच से कवि उत्पन्न हुए और उन्होंने नये जीवन-मूल्य निर्धारित किये, नयी नैतिकता का निर्माण किया। इन विशेष परिस्थितियों में हिन्दी

साहित्य में एक बहुत बड़ी और महान् साहित्य-परम्परा का सूत्र-पात हुआ, जिसे हम भक्तिकाल के नाम से जानते हैं।

भक्तिकालीन काव्य-परम्परा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चार शाखाओं में बाँटा है—ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेम-मार्गी (सूफ़ी) शाखा, रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा। व्यापक सामाजिक दृष्टि से इनमें ज्ञानाश्रयी शाखा की परम्परा का महत्व सबसे अधिक है, अर्थात् उसमें जीवन-सत्य की अभिव्यक्ति न केवल सबसे अधिक और स्पष्ट रूप में हुई है, वरन् अधिक उदार और सकल-मानवीय एकता के आदर्श की उसमें उदात्त प्रवृत्ति भी मिलती है। कबीर इस परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। यद्यपि कबीर से पहले अनेक सिद्धों और जोगियों की बानियों में हिन्दू-मुस्लिम एकता का संदेश दिया गया था और हिन्दू धर्म की जाति-वर्ण-भेद पर निर्भर आचरण-नियमबद्धता के विरुद्ध मनुष्यमात्र की बराबरी की घोषणा की गयी थी, परन्तु कबीर पहले महाकवि और संत हैं जिन्होंने अपनी अटपटी वाणी में इस संदेश को विलक्षण गरिमा प्रदान करके जन-जन की वाणी बना दिया। ज्ञानाश्रयी परम्परा के भक्त कवि कबीर, रैदास और नानक की रचनाओं से यह स्पष्ट पता चलता है कि हिन्दू और मुसलमानों में आपस में उतना वैर-भाव नहीं था, जितना अपनी ही जातियों के दलित और उपेक्षित वर्गों के प्रति उनमें असहिष्णुता का भाव था। इसी कारण ये कवि कर्मकांडी पण्डितों और शेख-मुल्लों को निरंतर खरी-खोटी सुना करके जनता में एकता और समानता के भाव का प्रचार करते रहे और हिन्दू-मुसलमानों के लिये उपासना का ऐसा स्वरूप निर्दिष्ट करते रहे जो दोनों को मान्य हो सके।

प्रेममार्गी शाखा की परम्परा कदाचित ज्ञानमार्गी शाखा की प्रतिक्रिया के रूप में शुरू हुई या सूफ़ी मत के प्रभाव के फैलने के कारण। जो भी कारण हो प्रेममार्गी कवियों ने, जिनमें कुतबन और जायसी प्रमुख हैं, भगवत् प्रेम का वर्णन लौकिक प्रेम के रूपकों के

द्वारा किया है। इन वर्णनों में भी उस समय के जीवन की ही अभिव्यक्ति है। यद्यपि कवियों ने अन्योक्ति का प्रयोग किया है, परन्तु उन राजकुमारों और राजकुमारियों का मर्मस्पर्शी वर्णन जो प्रेम, विरह और मिलन के चक्र में फस कर अपना पूरा जीवन बिता देते थे, यह सिद्ध करता है कि उस समय देश में अपेक्षाकृत अधिक शान्ति थी, गृह-युद्ध तो था ही नहीं और राजकुमारों को युद्धकला नहीं प्रेम करना सीखने की अधिक ज़रूरत थी। दूसरी ओर ये रचनाएँ इस बात का भी परिणाम हैं कि उस समय भक्ति भावना ज़ोर पकड़ रही थी और लोग धर्म और भगवद्भक्ति को अधिक मानवीय प्रेम गाथाओं के रूप में सरलता पूर्वक ग्रहण कर सकते थे। कबीर की बौद्धिकता की धारा उनके लिये अधिक प्रखर थी।

ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी काव्य परम्पराओं की विशेषता यह है कि वे साम्प्रदायिक नहीं थीं, एक प्रकार से साम्प्रदायिक बंधनों को तोड़ कर मानवमात्र की एकता की घोषणा करती थीं और उदार और व्यापक नैतिकता का प्रचार करती थीं। उनमें जिस जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है उसका स्पष्ट उद्देश्य हिन्दू-मुसलिम एकता स्थापित करना और धार्मिक कट्टरता को मिटाना था। परन्तु इनके पश्चात् राम भक्ति और कृष्ण भक्ति की जिन साहित्य परम्पराओं का सूत्रपात क्रमशः तुलसी और सूर ने किया वे व्यापक अर्थों में साम्प्रदायिक थीं, अर्थात् उनमें पहली बार हिन्दुओं की जातीयता ने अपने स्वरूप को पहचाना। परन्तु तुलसी, सूर या मीरा ने अपनी रचनाओं में मुसलमानों के विरुद्ध नहीं लिखा, अतः हिन्दुओं की यह जातीय चेतना मुस्लिम विरोधी नहीं थी, बल्कि अपने जातीय आदर्शों के आधार पर अपनी एकता पहचान कर संगठित होने की आवश्यकता से उत्पन्न हुई थी। उस समय देश में मुग़लशासन ने सामन्ती व्यवस्था को नये ढंग से संगठित किया था। ऐसी स्थिति में तुलसी की रामायण और सूर का सूर-सागर आदि रचनाएँ केवल भक्ति भावना की सगुणो-

पासक प्रवृत्ति की ही अभिव्यक्ति नहीं करती, बल्कि उससे भी कहीं अधिक वे उन मानव मूल्यों की सृष्टि करती हैं जिनके कारण मनुष्य का जीवन जीने योग्य बनता है। रामायण में व्यक्त भाई-भाई का स्नेह, पति-पत्नी का प्रेम, वीरता, त्याग, भक्त-वत्सलता आदि के उदाहरण उन मानव मूल्यों की सृष्टि करते हैं जिनके लिए कबीर और दूसरे संत कवियोंने आंदोलन किया था। सूर-सागर में व्यक्त वात्सल्य और गोपियों के निश्छल प्रेम के वर्णन जीवन को सरस और मानवीय बनाने की प्रेरणा देते हैं। अतः भक्ति की इन दो परम्पराओं ने जीवन सत्य की जितनी गहरी अभिव्यक्ति की वह अभूतपूर्व थी। संकीर्ण साम्प्रदायिक या धार्मिक दृष्टि से देख कर इन रचनाओं के साहित्यिक मूल्यों की बहुधा उपेक्षा की गई है। उनके साहित्यिक मूल्य, जिनके कारण वे अमर रचनाएँ हैं, उनकी व्यापक मानवीय सहानुभूति के अन्दर निहित हैं। इस व्यापक मानवीय सहानुभूति को तुलसी-सूर ने अपने ग्रन्थों में सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति करके व्यक्त किया है। यही उनकी महत्ता है।

भक्ति परम्परा के पश्चात् हिन्दी में एक ऐसी काव्य परम्परा का सूत्रपात हुआ जो विलासी राजाओं के दरबार में पनपी और वहीं तक सीमित भी रही। दरबारों का वातावरण इस बीच बहुत दूषित हो गया था। राजा विलासप्रिय थे और आमोद प्रमोद के साधन जुटाने में ही जीवन की सार्थकता समझते थे। अतः वीर-गीतों या भक्ति-गीतों से उनका मनोरंजन नहीं हो पाता था। वे अनूठी और चमत्कारपूर्ण युक्तियों और नायक-नायिकाओं के सूक्ष्म भेदों का वर्णन करने वाली कविताओं को प्रोत्साहन दे रहे थे। फल यह हुआ कि एक ओर आचार्य केशवदास और फिर उनके पश्चात् सैकड़ों कवियों ने संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर रीति-ग्रन्थों की रचना की, दूसरी ओर अगणित कवियों ने राजाओं का मनोरंजन करने के लिये शृङ्गार-रस की अविरल धारा बहायी। अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल

उन्होंने श्लील और अश्लील का विचार छोड़ कर शृङ्गार का मुक्त वर्णन किया है। बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर और घन आनन्द आदि इस काव्य परम्परा के प्रमुख कवि हैं। रीति परम्परा के काव्य में विलासी-जीवन की सूक्ष्म शृङ्गारिक रुचि की अभिव्यक्ति मिलती है, इससे अधिक जीवन के अन्य व्यापारों का चित्रण उसमें नहीं हुआ है।

रीति परम्परा का अन्त होते होते हिन्दी का आधुनिक युग शुरू हो जाता है। भारतेन्दु-कालीन साहित्य में हम जीवन की आधुनिक समस्याओं की अभिव्यक्ति पाते हैं, समाज-सुधार की भावना ही उसकी प्रेरणा का केन्द्र है। परन्तु वास्तव में जो महत्वपूर्ण साहित्य-परम्परा रीति काव्य के बाद हिन्दी में विकसित हुई वह छायावादी-काव्य की परम्परा है। छायावादी काव्य में हम आधुनिक जीवन की विषमताओं के प्रति व्यक्ति के गहरे असन्तोष और मुक्ति कामना की अभिव्यक्ति पाते हैं। वर्तमान जीवन का सारा अवसाद, निराशा, संकीर्णता, अनिश्चितता, समाज के सामन्ती बन्धनों की क्रूरता और व्यक्ति के आत्मविकास की सुविधाओं की स्वल्पता के विरुद्ध यह असन्तोष कभी कभी इतनी तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ है कि कवि ने मुक्ति का अर्थ जीवन से पलायन करना ही माना है। परन्तु यत्र-तत्र इस अ-समाजिक दृष्टिकोण के बावजूद प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, बच्चन की छायावादी काव्य-परम्परा ने आधुनिक जीवन के वस्तु-सत्य की जैसी गहरी अभिव्यक्ति की है, वैसी प्रगतिवाद की अभिनवतम परम्परा अभी तक नहीं कर पायी है, यद्यपि प्रगतिवाद केवल व्यक्ति ही नहीं वरन् पूरे समाज के जीवन के सत्य का चित्रण करने का हौसला लेकर उठा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य की बड़ी बड़ी परम्पराओं ने जीवन-सत्य की सर्वदा अभिव्यक्ति की है, यह दूसरी बात है कि वह सत्य कभी मनुष्यमात्र के व्यापक जीवन की एकता का हो या राज-दरबारों के संकुचित वातावरण का, या व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक विसंगतियों का या भावी जीवन के लिए संघर्षरत शोषित मानवता का।

साहित्य और समाज‡

साहित्य क्या है ? साहित्य से हम अक्सर जो समझते आये हैं उससे वह व्यापक चीज़ है। साहित्य तो एक ऐसा सागर है जिसे सदियों से मनुष्य ने अपने अनुभवों, स्वप्नों, कल्पनाओं, विचारों और हृदय के उद्‌गारों से भरा है। साहित्य विज्ञान की तरह मनुष्य के मस्तिष्क की सबसे अद्‌भुत उपज है। सामाजिक मनुष्य सोचता है, अपने विचारों, अपने अनुभवों, अपने अन्वेषणों को तरतीब देता है, उनका उपयोग करता है और इस प्रकार विज्ञान का जन्म होता है। किन्तु साथ ही वह दुःख भी झेलता है, प्रसन्न होता है, मनोरंजन करता है, शोक से विह्वल होता है, पीड़ा से कातर हो उठता है, गर्व से फूल जाता है, खुशी से उसका मन नाच उठता है; साहित्य इन्हीं मनोदशाओं की अभिव्यक्ति करता है, मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क में वाह्यजगत् के नाना रूपों और कार्य-कलापों की जो प्रतिक्रिया होती है उन्हीं की समन्वित एवं कलात्मक अभिव्यक्ति को साहित्य कहते हैं। इस प्रकार इस अनुभव को अभिव्यंजित कर वह मनुष्य की भावनाओं और अन्तवृ‌ त्तियों का समाजीकरण करता है, उनका विनिमय करता है और उनका विस्तार करता है।

समाज क्या है ? आमतौर पर व्यक्तियों या मनुष्यों के 'समूह' या मजमूआ को समाज कहते हैं। लेकिन समाज केवल मनुष्यों या व्यक्तियों

---

‡ यह आगरे के सेन्ट जोन्स कालेज में दिये भाषण का एक अंश है। रेल में जल्दी में लिखे जाने के कारण 'साहित्य और समाज' जैसे गंभीर प्रश्न की रूपरेखा मात्र देता है। —ले०

का ही समूह नहीं है, ये व्यक्ति कार्य करते हैं जिसकी एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, वे प्रकृति के साथ नित्य नये और उच्च स्तर पर समतुल्यता (Equilibrium) स्थापित करने के लिए मिलकर संघर्ष करते हैं ; अपने जीवन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपकरण जुटाते हैं, अर्थात् एक सामाजिक कला-विज्ञान अथवा शिल्प-विज्ञान का विकास करते हैं, जिसके द्वारा वे सामाजिक उपयोग की वस्तुएँ तैयार करते हैं। ये उत्पादन के साधन—मशीनें, यातायात के साधन, ट्रैक्टर, बन्दरगाह, रेलें, जहाज़, प्रेस—अथवा दूसरी भौतिक वस्तुएँ जैसे पुस्तकें, रेडियो, सिनेमा, अजायबघर, तसवीरें, नक्शे, पुस्तकालय या ज्योतिष-विज्ञान की प्रयोगशालाएँ आदि हज़ारों वस्तुएँ समाज के ही अवयव हैं, जीवित और स्पन्दित हैं, समाज के बाहर उनका कोई सामाजिक महत्व नहीं है। मानव समाज से बाहर हो कर वह केवल बाह्य जड़ प्रकृति के ही टुकड़े मात्र रह जाती हैं। अतः अब हमारी दृष्टि में समाज केवल व्यक्तियों की व्यवस्था ही नहीं रह गया, बल्कि हमने उसमें मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुएँ भी शामिल कर ली हैं। किन्तु मनुष्य की बनावट केवल शरीर और अंगों की ही नहीं है, वह सोचता है, अनुभव करता है, आकांक्षाएँ रखता है, अपने जीवन की आवश्यकताओं को सामने रखकर नित्य नये लक्ष्य बनाता है। इस प्रकार 'विचारों' के सिस्टम का विकास होता है, कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन, इतिहास और समाजशास्त्र का जन्म होता है। अतः समाज में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध पार्थिव ही नहीं होते वरन् मानसिक, और मनोवैज्ञानिक भी होते हैं। हमने यह भी देखा कि समाज तीन तत्वों से मिलकर बना है, वस्तुएँ, मनुष्य और विचार। हम पहले ही कह चुके हैं कि वस्तुओं का समाज के बाहर कोई सामाजिक महत्त्व नहीं होता, अर्थात् समाज के ये तीनों तत्व एक दूसरे से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते। यदि समाज न होगा तो न मनुष्य-निर्मित वस्तुएँ ही होंगी, न विचार और न मनुष्य ही। अतः हम

इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि समाज के इन तीनों अंगों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, साथ ही यह भी कि इन तीनों तत्त्वों में कोई न कोई संतुलन अवश्य रहता है, बिना इस पारस्परिक संतुलन के समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है।

अब हमें देखना है कि समाज और साहित्य में क्या सम्बन्ध है? आज कल अक्सर कहा जाता है कि साहित्य या कला को समाज की आवश्यकताओं का विचार नहीं करना चाहिये। कुछ लोग साहित्य या कला को अपने में पूर्ण मानते हैं, उसे सामाजिक उपयोगिता की वस्तु न मानकर केवल बुद्धि-विलास की वस्तु ही समझते हैं; 'कला के लिए कला' के निर्माण पर ज़ोर देते हैं। यह तो सभी जानते हैं कि समाज मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित है, एक वह जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व है, तथा दूसरा वह जो इन साधनों को चलाता है, अथवा यदि हम बौद्धिक दृष्टि से देखें तो एक वर्ग वह जो अवकाश भोगी और साधन सम्पन्न होने के कारण सोचता-विचारता है, कला वस्तुओं का निर्माण करता है, दूसरा वह जो साधन-हीन होने के कारण इन कार्यों से अलग रहता है। कहने का तात्पर्य यह कि समाज में जो वर्ग-विभाजन मौजूद है, उसी का प्रतिबिम्ब इस विचारधारा के मूल में है, जो समाज और साहित्य को अलग-अलग कर देखती है। इस विचारधारा के अनुसार कला और साहित्य एक प्रकार का तेल है जो समाज के पानी में पड़कर भी उसमें घुलमिल नहीं जाता, अपना अस्तित्व अलग बनाये रखता है। लेकिन इस मिसाल में विचार करने की बात यह है कि तेल पानी का अंग नहीं है, पानी से उत्पन्न वस्तु नहीं है; और हम ऊपर जान चुके हैं कि साहित्य समाज का एक अंग है और उसी की आवश्यकताओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है। इसलिए अभिजात वर्ग की विचारधारा ग़लत है, वह ग़लत मिसालें पेशकर सत्य पर पर्दा डालती है। पूँजीजीवी दार्शनिकों का कहना है कि साहित्य, कला और संस्कृति का समाज की आवश्यकताओं और उपयोगिताओं से

कोई सम्बन्ध नहीं है, वह इन भौतिक वस्तुओं से ऊपर की चीज़ है, यद्यपि इन्हीं से उत्पन्न हुई है। यदि हम इस बात को मान लें तो किस नतीजे पर पहुँचेंगे ? स्पष्ट है कि हम धर्म और अन्ध विश्वास की दलदल में गिर जायेंगे।

सामाजिक जीवन का मूल तत्व सामाजिक श्रम है जो मनुष्य को एक समूह के रूप में बाँध रखता है। इसी सामाजिक श्रम द्वारा मनुष्य प्रकृति और समाज की पारस्परिक असंगतियों का निराकरण कर प्रकृति के साथ नये स्तरों पर संतुलन स्थापित करता आया है। इस संघर्ष की आवश्यकताओं के फलस्वरूप ही वस्तुओं और विचारों के 'सिस्टम्स' का जन्म और विकास हो सका है। इसलिए समाज के इन तीनों तत्वों में भी संतुलन क़ायम होता आया है। यदि हम समाज की विकास-धारा का अनुसरण करें तो हमें ज्ञात होगा कि समाज की आर्थिक व्यवस्था तथा उसके उत्पादन और वितरण के साधनों की उन्नत अथवा अनुन्नत अवस्था के अनुरूप ही उसकी सभ्यता, संस्कृति, कला और साहित्य का रूप रहा है। अर्थात् आदिम काल में जब उत्पादन के साधन अनुन्नत थे, उस समय हमारा साहित्य अधिकतर पद्य-प्रधान ही था, क्योंकि छापेखाने और कागज़ न होने के कारण सारे ज्ञान को कंठस्थ करने की आवश्यकता पड़ती थी; उस समय हमको 'भविष्यवाद' की कविता न मिलेगी, क्योंकि 'भविष्यवाद' की कविता पूँजीवाद के अन्तिम काल में ही उत्पन्न हो सकती है, उस समय हमें रेडियो या फ़िल्म न मिलेंगे, क्योंकि उस समय के समाज का शिल्प-विज्ञान इतना उन्नत न हो सका था कि वह इन्हें तैयार कर सकता, इसी प्रकार आधुनिक अर्थ में हम जिसे उपन्यास कहते हैं वह भी उस युग में नहीं मिलेगा, क्योंकि उपन्यास-साहित्य उसी समय उत्पन्न होता है जब समाज का जीवन औद्योगीकरण के कारण अत्यंत संश्लिष्ट (Complex) होने लगता है। इसी प्रकार एक समाजवादी समाज में हमको वेदकालीन ऋतु-गीत और प्रकृति को देवता मानकर उनकी स्तुति करनेवाली

ऋचाएँ न मिलेंगी, न सामन्तकाल का रीति-काव्य ही।

इससे यह स्पष्ट है कि समाज की उत्पादन-प्रणाली के विकास से सामाजिक-सम्बन्धों में जो परिवर्तन होता रहता है, साहित्य उसकी अभिव्यक्ति करता है, और किसी विशेष समाज के अन्तर्गत रहनेवाले मनुष्यों की राग-वृत्ति को उसके अनुकूल बनाने में सहायक होता है। यही साहित्य की सामाजिक उपादेयता है।

उदाहरण के लिए आधुनिक साहित्य को लीजिये। आज साहित्य और समाज का सम्बन्ध निम्न प्रकार से प्रकट होता है।

(१) वे उपकरण जो साहित्य के उत्पादन में सहायक होते हैं जैसे—काग़ज़, क़लम, रोशनाई, प्रेस, बिजली आदि। ये सब वस्तुएँ सामाजिक श्रम द्वारा ही उत्पन्न होती है।

(२) वे मनुष्य जो विभिन्न मानव-सम्बन्धों में संगठित होकर साहित्य के उत्पादन में सहायक होते हैं, जैसे—काग़ज़, क़लम, प्रेस, आदि बनानेवाले लोग, कम्पोज़िटर, प्रूफ़रीडर, मशीनमैन, जिल्दसाज़, विक्रेता, एजेन्ट, प्रकाशक आदि। ये सब व्यक्ति समाज के अन्दर रहनेवाले ही मनुष्य हैं।

(३) साहित्य की वे शैलियाँ जिन्हें लेखक अपनी रचना में प्रयुक्त करता है, जैसे—अभिव्यंजनावाद, भविष्यवाद, यथार्थवाद आदि किसी समाज-विशेष का वाह्य-वास्तविकता के प्रति जो दृष्टिकोण होता है, ये शैलियाँ उसी की कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप होती हैं।

(४) साहित्य के वे रूप-विधान, जिनको लेखक अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाता है, जैसे—कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि। ये सब रूप-विधान समाज के विकास के साथ ही विकसित हुए हैं, उसी की आवश्यकताओं के अनुरूप। (यह हम पहले जान चुके हैं।)

(५) साहित्य का वह भाव तथा विचार-वस्तु जो समाज और जीवन के प्रति लेखक के दृष्टिकोण का परिचय देती है, जैसे—एक

पूँजीवाद का समर्थक लेखक रुडियार्ड किप्लिंग की तरह साम्राज्यवाद और औपनिवेशिक-परतन्त्रता का विरद गाएगा, या नीत्से के समान पूँजीवाद के अन्तिम विकराल रूप फ़ासिज़्म की पूर्व-कल्पना करेगा, या एडगर एलेन पो और एडगर वालेस की तरह पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न (Gentlemen burglars) 'भद्र चोरों' के बारे में जासूसी उपन्यास लिखकर आधुनिक समाज की असंगतियों से बचने की कोशिश करेगा, या टामस हार्डी की तरह निराशावाद के गर्त में गिर जाएगा। इसके विपरीत मज़दूर वर्ग का समर्थन करनेवाला लेखक समाज की असंगतियों का यथार्थवादी चित्रण कर समाज को बदलने की भावना की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्ति करेगा, जैसे रोम्याँ रोलाँ, स्वर्गीय हेनरी बारबूज़, स्वर्गीय गोर्की आदि।

ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि साहित्य का समाज से पग-पग पर सम्बन्ध रहता है, साहित्य के उत्पादन की कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है जिससे सामाजिक कार्य अथवा समाज की मानसिक स्थिति का वहिष्कार किया जाता हो।

इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए एक दो उदाहरण और देकर हम आगे बढ़ेंगे। आपने अकसर सोचा होगा कि आजकल वेदव्यास और तुलसीदास क्यों नहीं उत्पन्न होते, योरप में होमर और शेक्सपियर क्यों नहीं पैदा हो रहे, जब कि वहाँ कि संस्कृति यान्त्रिक तथा उत्पादन के साधनों के विकास में इतनी आगे बढ़ गई है? लेकिन कभी आपने यह भी सोचा हैं कि पुराने ज़माने में 'पंत' क्यों नहीं हुए थे, वह पंत जिनके काव्य-साहित्य में पहचान में न आनेवाले परिवर्तन हो गये हैं? 'पल्लव' और 'ग्राम्या' नाम काटकर किसी के हाथ में दे दीजिये जो कि पंत को नहीं जानता और उससे कहिये कि ये एक ही कवि की कविताएँ हैं तो वह आपकी बात पर आश्चर्य करेगा; किन्तु तुलसीदास के काव्य में भी क्या कभी यह युगपरिवर्तन उपस्थित हुए थे, या हो सकते थे? शेक्सपियर के युग में बर्नर्ड शा

नहीं हो सके, क्यों ? क्योंकि दोनों कालों की सामाजिक अवस्था भिन्न है, इस कारण उनकी सामाजिक चेतना भी भिन्न है, और साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी भिन्न हैं।

कुछ लोग इस दृष्टिकोण का विरोध करने के लिए कोई तर्क न पेश कर केवल एक जिज्ञासा प्रकट करते हैं, और अपने मनोनुकूल उत्तर न पाकर प्रगतिवाद का विरोध करने लगते हैं। वे पूछते हैं— 'अगर तुम साहित्य को समाज का एक परिशिष्ट (?) बना देते हो तो फिर यह सच होना चाहिये कि समाज के उत्पादन के साधन जितने ही उन्नत होते जाएँ उतना ही साहित्य भी उन्नत होता जाए, और यदि किसी ज़माने में एक कालिदास हुए थे तो उन्नत युग में चार कालिदास होने चाहिए, और चारों पहले कालिदास से दो गुने श्रेष्ठ कलाकार। लेकिन ऐसा हुआ तो नहीं है।' इतना कहकर वे निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि समाज और साहित्य में कोई सम्बन्ध नहीं है, कला एक शाश्वत वस्तु है, प्रतिभावान व्यक्ति कभी कभी ही जन्म लेते हैं और साहित्य और कला को समाज की सीमाओं में बाँधकर देखना ग़लत है। किन्तु तर्क करने का यह तरीक़ा भी ग़लत है। हम सभी जानते हैं कि आज उत्पादन के साधन उन्नत हो गये हैं, इस कारण उत्पादन भी बहुत बढ़ गया है, लेकिन क्या यह उत्पादन हर क्षेत्र में समान रूप से ज़्यादा बढ़ा है ? जिस तीव्र गति से न्यूयार्क में गगनचुम्बी महल बनाने के लिए ईंट, चूने और लोहे का उत्पादन हुआ, उतनी तीव्र गति से न्यूयार्क के ही रहनेवालों के लिए जूतों का उत्पादन नहीं हुआ। अतः हम देखते हैं कि समाज का शिल्प-विज्ञान भी हर क्षेत्र में समान रूप से आगे नहीं बढ़ता, इसी तरह यह ज़रूरी नहीं है कि साहित्य और उत्पादन के साधनों का विकास समान गति से ही हो। इसके अतिरिक्त आज के समाज के वर्ग-सम्बन्ध ने लेखक के मस्तिष्क में ऐसी रस्साकशी कर रखी है कि वह आसानी से अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर पाता। फिर भी समाज ने जब जब करवट बदली है और क्रान्ति

साधारण मनुष्यों के जीवन की विचारधारा बनी है; तब लेखकों के मानसिक बंधन भी ढीले पड़े हैं, और फिर प्रतिभाओं के जन्म के लिये मनौती मनाने और देवताओं को प्रसाद चढ़ाने की ज़रूरत नहीं पड़ी है। शेक्सपियर और पुश्किन, विक्टरह्यूगो और टालस्टाय, गोर्की और रोम्यारोला ऐसे क्रान्ति-युगों में ही जन्मे हैं, और आज रूस में, जहाँ तन मन का शोषण खत्म होगया है, प्रतिभायें घर घर में जन्म ले रही हैं, वे उँगलियों पर गिनाने की चीज़ नहीं रहीं। साहित्य का भी इसी कारण वहाँ अभूतपूर्व विकास हो रहा है।

यह निश्चय कर लेने के बाद कि समाज और साहित्य में एक अन्योन्याश्रित् सम्बन्ध है कि साहित्य समाज का ऐसा प्रतिबिम्ब है जो समाज को प्रभावित करता है, उसके विकास की गति को तीव्र करता है और समाज से प्राणरस पाकर स्वय जीवित रहता है, अब हमें दूसरे प्रश्नों की ओर मुड़ना चाहिये। ये प्रश्न हैं: इस समय साहित्य की क्या अवस्था है, और मौजूदा समाज के प्रति साहित्य का क्या दृष्टि-कोण होना चाहिये ?

आपने अकसर मार्क्सवादी विचारकों को कहते हुए सुना होगा कि इस समय साहित्य में एक संकट (Crisis) पैदा हो गया है; कहा जाता है कि पूँजीवाद साहित्य और कला का दुश्मन है, कि व्यवसाय के चक्र में डालकर पूँजीवाद ने कला को भी विक्रय की वस्तु बना दिया है, जिससे कला और साहित्य का ह्रास हो रहा है; कि दुनिया के बड़े बड़े अन्तिम पूँजीवादी लेखक या तो मर गये हैं, या मरते जा रहे हैं, जैसे प्रूस्ट, डी० एच लारेन्स, नीत्शे, जेम्स ज्वायस आदि, और बाकी लेखक जैसे एच० जी० वेल्स, बर्नर्डशा और टी० एस० ईलियट अब कोई नई चीज़ नहीं दे सकते, उनकी प्रतिभा खत्म हो चुकी है; कि नये लेखकों में जितने भी प्रतिभासम्पन्न हैं वे क्रान्ति की, मज़दूर-वर्ग की विचारधारा की ओर मुड़ रहे हैं, अतः पूँजीवादी लेखकों की फ़ौज में नये रंगरूटों की भरती बन्द हो गई है; कि साहित्य में भी

दो विचारधाराएँ परस्पर संघर्ष कर रही हैं, दो शैलियाँ लड़ रही हैं, इत्यादि। इस मत की पुष्टि हम इस प्रकार करते हैं। आज समाज की असंगतियाँ ऊपर उभर आई हैं, पूँजीपति-वर्ग और मज़दूर वर्ग दोनों का संघर्ष इस युग की सबसे बड़ी हक़ीक़त है। समाज के उत्पादन के साधन इतने उन्नत हो गये हैं कि उनको चलाने के लिए सामाजिक श्रम की ज़रूरत पड़ती है। इन साधनों पर व्यक्तिगत स्वाधिकार क़ायम है। इस कारण समाज के जीवन में एक ऐसी ज़बर्दस्त असंगति उत्पन्न हो गई है, समाज का संतुलन इतना विचलित हो गया है कि पूँजीवाद का अन्त कर समाजवाद क़ायम हुए बिना समाज की असंगतियाँ दूर नहीं हो सकतीं। अतः समाज में एक बड़ा ज़बर्दस्त संघर्ष है, (मौजूदा युद्ध* पूँजीवाद की ओर से समाज का संतुलन स्थापित करने का एक क्रूर प्रयास है, किन्तु इससे असंगतियाँ और बढ़ती हैं, कम नहीं होतीं) समाज दो वर्गों में बँट गया है। इसी प्रकार आधुनिक साहित्य में असंगति उत्पन्न हो गई है, और वह भी संकटग्रस्त है। पूँजीवाद और समाजवाद की विचारधारा को लेकर दो लेखक-दल बन गये हैं, ब्रिटेन से प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों पर आपने अक्सर पढ़ा होगा। Left Book Club Publication या Right Book Club Publication. इससे स्पष्ट है कि साहित्य में भी दो धाराएँ बह चली हैं।

ये दोनों साहित्य की विचारधाराएँ समाज के उन दोनों वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो इस समय आपस में संघर्ष कर रहे हैं। इसलिए यह कहना कि साहित्य किसी एक वर्ग का नहीं हो सकता, ग़लत है। इस समय साहित्य वर्गों की सीमा में बँध कर ही अग्रसर हो रहा है। तो अब साहित्य में पैदा हुए संकट की वास्तविकता का पता हमें चल गया।

---

* ब्रिटेन और जर्मनी का दूसरा साम्राज्यवादी युद्ध। उस समय तक साम्राज्यवादी युद्ध जन युद्ध के रूप में परिणत नहीं हुआ था।

साहित्य संकटापन्न है उसी प्रकार जिस प्रकार पूँजीवादी समाज। सामाजिक नियमो के अनुसार जैसे यह दृढ़ निश्चित है कि पूँजीवाद का अन्त होगा और उसके स्थान पर एक समाजवादी समाज कायम होगा, उसी तरह यह दृढ़ निश्चित है कि भावी साहित्य पूँजीपति वर्ग की भावनाओं की अभिव्यक्ति न करके श्रमिक कृषक वर्ग की भावनाओं की अभिव्यक्ति करेगा और उसके अनुरूप ही उसके भाव-प्रकाशन की शैली में भी परिवर्तन हो जायगा अर्थात् छायावाद, रहस्यवाद अथवा पूँजीवादी यथार्थवाद के स्थान पर समाजवादी यथार्थवाद का चलन होगा और इस परिवर्तन के पूर्व-चिह्न हमें दृष्टिगोचर होने लगे हैं। पूँजीवादी साहित्य का ह्रास और प्रगतिशील साहित्य का विकास हो रहा है। दूसरे देशों में जहाँ पर श्रमिक आन्दोलन बहुत आगे बढ़ गया है वहाँ पर तो इस नयी साहित्यधारा ने प्रमुखता प्राप्त कर ली है, जैसे अमेरिका, चीन या इंगलैण्ड। किन्तु हमारे देश में अभी इसका सूत्रपात ही हुआ है क्योंकि यहाँ का श्रमिक आन्दोलन अभी अपने शैशवकाल ही में है और जिस प्रकार बिना श्रमिक वर्ग के उत्पन्न हुए मार्क्सवाद की विचारधारा का जन्म नहीं हो सकता था उसी प्रकार हमारे यहाँ भी बिना श्रमिक आन्दोलन के उत्पन्न हुए आधुनिक प्रगतिशील साहित्य का जन्म नहीं हो सकता था। अतः यह सोचकर निराश हो जाना अथवा भ्रान्त हो जाना कि भारत का प्रगतिशील साहित्य नहीं के बराबर है और अत्यन्त साधारण कोटि का है, गलत होगा। अभी हमारा प्रगतिशील साहित्य केवल बौद्धिक सहानु-भूति-पूर्ण अथवा भावना-प्रधान ही है। उसमें भावुकता और उद्‌गार-प्रदर्शन अधिक है, श्रमजीवी जनता के संघर्षमय जीवन की अभिव्यंजना कम ; इसका मुख्य कारण यह है कि हमारा श्रमजीवी आन्दोलन अभी ऊँचे स्तर पर नहीं पहुँचा है और उसकी त्रुटियां, कमजोरियां तथा अस-फलताओं के अनुरूप ही हमारे प्रगतिशील साहित्य में भी खामियाँ हैं।

इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि साहित्य और समाज का सम्बन्ध

दो विचारधाराएँ परस्पर संघर्ष कर रही हैं, दो शैलियाँ लड़ रही हैं, इत्यादि। इस मत की पुष्टि हम इस प्रकार करते हैं। आज समाज की असंगतियाँ ऊपर उभर आई हैं, पूँजीपति-वर्ग और मज़दूर वर्ग दोनों का संघर्ष इस युग की सबसे बड़ी हक़ीक़त है। समाज के उत्पादन के साधन इतने उन्नत हो गये हैं कि उनको चलाने के लिए सामाजिक श्रम की ज़रूरत पड़ती है। इन साधनों पर व्यक्तिगत स्वाधिकार क़ायम है। इस कारण समाज के जीवन में एक ऐसी ज़बर्दस्त असंगति उत्पन्न हो गई है, समाज का संतुलन इतना विचलित हो गया है कि पूँजीवाद का अन्त कर समाजवाद क़ायम हुए बिना समाज की असंगतियाँ दूर नहीं हो सकतीं। अतः समाज में एक बड़ा ज़बर्दस्त संघर्ष है, (मौजूदा युद्ध* पूँजीवाद की ओर से समाज का संतुलन स्थापित करने का एक क्रूर प्रयास है, किन्तु इससे असंगतियाँ और बढ़ती हैं, कम नहीं होतीं) समाज दो वर्गों में बँट गया है। इसी प्रकार आधुनिक साहित्य में असंगति उत्पन्न हो गई है, और वह भी संकटग्रस्त है। पूँजीवाद और समाजवाद की विचारधारा को लेकर दो लेखक-दल बन गये हैं, ब्रिटेन से प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों पर आपने अक्सर पढ़ा होगा। Left Book Club Publication या Right Book Club Publication. इससे स्पष्ट है कि साहित्य में भी दो धाराएँ बह चली हैं।

ये दोनों साहित्य की विचारधाराएँ समाज के उन दोनों वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं जो इस समय आपस में संघर्ष कर रहे हैं। इसलिए यह कहना कि साहित्य किसी एक वर्ग का नहीं हो सकता, ग़लत है। इस समय साहित्य वर्गों की सीमा में बँध कर ही अग्रसर हो रहा है। तो अब साहित्य में पैदा हुए संकट की वास्तविकता का पता हमें चल गया।

---

* ब्रिटेन और जर्मनी का दूसरा साम्राज्यवादी युद्ध। उस समय तक साम्राज्यवादी युद्ध जन युद्ध के रूप में परिणत नहीं हुआ था।

साहित्य संकटापन्न है उसी प्रकार जिस प्रकार पूँजीवादी समाज।
सामाजिक नियमों के अनुसार जैसे यह दृढ़ निश्चित है कि पूँजीवाद का अन्त होगा और उसके स्थान पर एक समाजवादी समाज कायम होगा, उसी तरह यह दृढ़ निश्चित है कि भावी साहित्य पूँजीपति वर्ग की भावनाओं की अभिव्यक्ति न करके श्रमिक कृषक वर्ग की भावनाओं की अभिव्यक्ति करेगा और उसके अनुरूप ही उसके भाव-प्रकाशन की शैली में भी परिवर्तन हो जायगा अर्थात् छायावाद, रहस्यवाद अथवा पूँजीवादी यथार्थवाद के स्थान पर समाजवादी यथार्थवाद का चलन होगा और इस परिवर्तन के पूर्व-चिह्न हमें दृष्टिगोचर होने लगे हैं। पूँजीवादी साहित्य का ह्रास और प्रगतिशील साहित्य का विकास हो रहा है। दूसरे देशों में जहाँ पर श्रमिक आन्दोलन बहुत आगे बढ़ गया है वहाँ पर तो इस नयी साहित्यधारा ने प्रमुखता प्राप्त कर ली है, जैसे अमेरिका, चीन या इंगलैण्ड। किन्तु हमारे देश में अभी इसका सूत्रपात ही हुआ है क्योंकि यहाँ का श्रमिक आन्दोलन अभी अपने शैशवकाल ही में है और जिस प्रकार बिना श्रमिक वर्ग के उत्पन्न हुए मार्क्सवाद की विचारधारा का जन्म नहीं हो सकता था उसी प्रकार हमारे यहाँ भी बिना श्रमिक आन्दोलन के उत्पन्न हुए आधुनिक प्रगतिशील साहित्य का जन्म नहीं हो सकता था। अतः यह सोचकर निराश हो जाना अथवा भ्रान्त हो जाना कि भारत का प्रगतिशील साहित्य नहीं के बराबर है और अत्यन्त साधारण कोटि का है, गलत होगा। अभी हमारा प्रगतिशील साहित्य केवल बौद्धिक सहानुभूति-पूर्ण अथवा भावना-प्रधान ही है। उसमें भावुकता और उद्गार-प्रदर्शन अधिक है, श्रमजीवी जनता के संघर्षमय जीवन की अभिव्यंजना कम; इसका मुख्य कारण यह है कि हमारा श्रमजीवी आन्दोलन अभी ऊँचे स्तर पर नहीं पहुँचा है और उसकी त्रुटियों, कमजोरियों तथा असफलताओं के अनुरूप ही हमारे प्रगतिशील साहित्य में भी खामियाँ हैं।

इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि साहित्य और समाज का सम्बन्ध

इतना गहरा है कि उन्हें एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। प्रश्न उठता है कि समाज के प्रति साहित्य का क्या दृष्टिकोण हो। सामन्त-काल में या उसके पहले के समाजों में जब ऐसे प्रश्न उठते थे तो एक धार्मिक दृष्टि से यह कहकर कि साहित्य में लोक-कल्याण की भावना प्रधान होनी चाहिये, इतिकर्त्तव्यता समझ ली जाती थी; पर आज हम यह जानते हैं कि इस सीधी-सादी लोक-कल्याण की भावना के उद्‌गार का क्या अर्थ होता था। उसका अर्थ यह होता था कि राजा और प्रजा में परस्पर मेल रहे और ईश्वर और धर्म की प्रतिष्ठा क़ायम रहे। पहले काव्य और नाटक के ये आदर्श थे कि उनके चरित-नायक राजा या कुलीन वंश के श्रेष्ठ व्यक्ति हों; और यह बात उन दिनों सर्वमान्य थी; किन्तु आज ऐसा नहीं है और इसी लिए यह प्रश्न उठता है कि साहित्य के प्रति समाज का क्या रुख हो। आदि काल से मनुष्य का लक्ष्य स्वतंत्रता प्राप्त करना रहा है। प्रकृति के अंध प्रकोपों से बचने के लिए और अपने सामाजिक जीवन को उन्नत और श्रेष्ठ बनाने के लिए समाज का सामूहिक श्रम, उसका शिल्प-विज्ञान, कला, दर्शन, विज्ञान और साहित्य, ये सब इस स्वतंत्रता-प्राप्ति के अस्त्र हैं। अतः साहित्य का रुख यही होना चाहिये कि वह समाज की उन शक्तियों का समर्थन करे जो कि समाज को उच्च जीवन-निर्माण करने की क्षमता प्रदान करती हैं। आज के समाज में ये शक्तियाँ कौन-सी हैं? निश्चय ही शोषित श्रमजीवी-वर्ग की शक्तियां। अतः साहित्य को सच्चा साहित्य होने के लिए और सामाजिक जीवन की अभिव्यंजना करने के लिए प्रगतिशील और क्रान्तिकारी होना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह कि उन शोषित वर्गों का जो दृष्टिकोण मौजूदा समाज की बुनियादी समस्याओं की ओर है वही दृष्टिकोण साहित्य का भी उनके प्रति होना चाहिये।

—:o:—

संस्कृति, साहित्य और विद्यार्थी †

हम संकट-काल में पैदा हुए नौजवान हैं, या कहें कि हम सब दो साम्राज्यवादी-युद्धों* के बीच में पैदा होने वाले नौजवान हैं। हमारे चारों ओर की वे समस्त व्यवस्थाएँ, रीति-नीतियाँ, समाज-सम्बन्ध संकट-ग्रस्त हैं, नष्ट हो रहे हैं, जिन्हें हमने पुस्तकों में शाश्वत और चिरन्तन पढ़ा था, जिनके प्रति हमें मोह और श्रद्धा थी। इस बात ने हमारे जीवन को अनिश्चित तो बनाया है, व्यक्तिगत विकास को भी रोका है, लेकिन सदैव के लिए मौजूदा समाज की शृङ्खलाओं को तोड़ने की ज़िम्मेदारियाँ भी हमारे कन्धों पर डाल दी हैं। उनका भार गुरुतर है, तो भी हमें उठाना है।

ये ज़िम्मेदारियाँ क्या हैं? सांस्कृतिक समस्याओं के अन्तर्गत जीवन का हर पहलू आजाता है, किन्तु यहाँ हम केवल मानसिक-संस्कृति की समस्याओं पर ही विचार कर सकेंगे, यह ध्यान में रखकर कि वह समाज की सम्पूर्ण संस्कृति का एक अंग है।

वर्तमान समाज की सबसे बड़ी असंगति क्या है? यह कि उत्पादन के साधन इतने उन्नत और विस्तृत हैं कि उन्हें परिचालित करने के लिए सामूहिक-श्रम की आवश्यकता पड़ती है, जैसे रेल, तार, जहाज़, खानें, कारखाने आदि, परन्तु इन साधनों पर एक अल्पवर्ग का

---

† आगरा विद्यार्थी-कान्फ्रेंस में सभापति-पद से दिये गये भाषण का एक अंश।

* उस समय तक साम्राज्यवादी युद्ध जन-युद्ध के रूप में परिणत नहीं हुआ था।—ले०

व्यक्तिगत स्वामित्व है। इससे आर्थिक संकट, बेकारी, युद्ध और फासिज़्म का जन्म होता है, साथ ही मज़दूरों में सामूहिक चेतना फैलती है, संगठन और संघर्ष होता है। केवल समाजवाद ही मज़दूर-क्रान्ति के बाद इस व्यवस्था की जड़ में से आर्थिक शोषण और उत्पादन के साधनों पर होनेवाले वैयक्तिक स्वाधिकार को हटाकर उन पर पूरे समाज का अधिकार क़ायम कर सकता है और इन भयंकर असंगतियों को मिटा सकता है। इसी तरह आज समाज की मानसिक-संस्कृति में असंगतियाँ पैदा हो गई हैं। प्राचीन काल में मानसिक-संस्कृति के आदान-प्रदान का माध्यम व्यक्तिगत था, किन्तु आजकल स्कूल-कालेज, विश्वविद्यालय आदि तो उसके प्रसार या विस्तार के केन्द्र हैं ही, कुछ अत्यन्त आधुनिक साधनों का भी विकास हो गया है जैसे प्रेस, सिनेमा, रेडियो आदि। मानसिक संस्कृति का विस्तार करने वाले ये साधन न केवल सामूहिक रूप से परिचालित हैं, बल्कि वे ज़्यादा से ज़्यादा मनुष्यों तक इस संस्कृति को पहुँचाने में भी समर्थ हैं। परन्तु इन साधनों पर भी यदि व्यक्तिगत नहीं तो वर्गगत स्वाधिकार क़ायम है, वे एक अल्पवर्ग की सम्पत्ति हैं, और अल्पवर्ग की रुचि, भावना, विचारधारा और जीवन-दर्शन के सिद्धान्तों का ही अर्थात् अल्पवर्गीय-संस्कृति का ही विस्तार करते हैं। इस प्रकार आम जनता की भावनाओं और विचारों का शोषण होता है। इन साधनों पर सरकार का नियंत्रण रहता है; प्रेस-ऐक्ट, सेंसर बोर्ड इस नियन्त्रण के यम-दूत हैं। आपने न्यस्त स्वार्थों पर उँगली उठाई कि यमदूत आ धमके। अतः आज हम जिस मानसिक संस्कृति से अपने मस्तिष्क और हृदय को भोजन पहुँचाते हैं उसमें वर्ग-संस्कृति का ज़हर मिला रहता है, और हम कितने भी स्वस्थ मस्तिष्क के मनुष्य क्यों न हों इस ज़हर के असर से बच नहीं पाते। वही सुन्दर स्वप्नलोक की-सी भावी-जीवन की कल्पनाएँ, वही आदर्शवादी भ्रम जो वास्तविकता से कहीं सामञ्जस्य नहीं रखते, हमारे जीवन-मरण, त्याग और बलिदान के कारण बन जाते

हैं—युद्ध साम्राज्यवादी है, साम्राज्यवादी हितो और स्वार्थों की रक्षा या विस्तार के लिये ; और जूझ मरती है जनता, जिसके भाग में वेकारी, टैक्सों का बोझ, ग़रीबी, आवश्यकता की चीज़ों के भावों में वृद्धि और बलिदान पड़ते हैं। उस पर भी यह पूँजीवादी भ्रम (विशेष-कर विद्यार्थिओं में और मध्यमवर्गी जनता में व्याप्त) हमारा पिण्ड नहीं छोड़ता कि हम भी किसी दिन अपने व्यक्तिगत अध्यवसाय से दूसरो को पीछे ढकेलकर पूँजीपतिवर्ग के प्रतिष्ठित सदस्य बन सकते हैं, रॉक्फेलर और फोर्ड हो सकते हैं। इसी कारण यह ढुलमुलयक़ीनी हमारे वर्ग की दूसरी प्रकृति बन गई है। न हम खुलकर क्रान्ति का साथ दे पाते हैं और न पूँजीवादी समाज हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति करता है। हम डाँवाडोल और अनिश्चित बने रहते हैं, जीवन में कोई महान निर्णय नहीं कर पाते। और जिस प्रकार रोमन जे० सेन्डर के उपन्यास 'सात इन्क़लाबी इतवार' की बूर्ज़्वा हीरोइन अम्पारो क्रान्ति-कारी सामर से प्रेम करके भी अपने 'जीवन की मिथ्या-कल्पनाओं' के कारण, इच्छा रहते हुए भी, क्रान्ति का साथ न दे पायी और अपनी 'मिथ्या-कल्पनाओं' की इमारत को ढहते देखकर आत्मघात कर गुज़री, उसी प्रकार हमारा निम्न मध्यवर्ग भी पूँजीवादी मानसिक-संस्कृति के बिखरे टुकड़ों पर 'मिथ्या कल्पनाओं' से भ्रमित हो उठता है, और इच्छा करके भी क्रान्ति को धोका देकर अपना मानसिक-आत्मघात कर लेता है। आप बेकार हैं, पेट में रोटी नहीं पड़ती, क्रान्ति की आवश्यकता महसूस करते हैं, लेकिन तो भी उसका विरोध करते हैं क्योंकि अभी आशा बँधी है कि कहीं किसी पूँजीपति की कृपा-दृष्टि हो गई तो निहाल हो जाएँगे। फिर नौजवानों को 'देश की आशा', 'भावी नागरिक' होने के भ्रामक संदेश सुनानेवाले ढोंगियों की कमी नहीं है, दिन-रात सुनते जाइये, कल्पना के वायवी क़िले बनाते जाइए और पिसकर, चुसकर भी 'जीवन की मिथ्या कल्पनाओं' की मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ते जाइए। पूँजीवाद की मानसिक संस्कृति हमें

इसी मॉडल पर तैयार करती है, निकम्मा और अपाहिज बना देती है। हमारा निम्न-मध्यवर्ग ऐसे मानसिक-आत्मघात किये हुए सजीव मनुष्यों की एक जबर्दस्त फौज बन गया है, जिसमें सभी शामिल हैं, सोशल डिमाक्रेट, लेखक, कलाकार, विद्यार्थी, वैज्ञानिक, दार्शनिक, वकील, डॉक्टर आदि। इस वर्ग की ढुलमुलयक़ीनी का मूलगत कारण यह है कि समाज के उत्पादन-कार्य में इसका सीधा हाथ नहीं होता। यही कारण है कि जो विचारक युद्ध से पूर्व समाजवाद और सोवियट रूस के प्रबल समर्थक थे, युद्ध छिड़ते ही अपने साम्राज्यवादी मालिकों के दामन में शरणागत हो गए। जब जॉन स्ट्रेची, गोलेन्ज, लास्की आदि का यह हाल है तो हम आप तो साधारण विद्यार्थी हैं। कहने का तात्पर्य यह कि यद्यपि मानसिक संस्कृति के विस्तार के साधन अत्यन्त उन्नत और सामूहिक हैं, पर वे हमारी मानसिक दशा को मानसिक गुलामी के सकीर्ण दायरे मे बाँध देते हैं—क्योंकि वे जिस संस्कृति का विस्तार करते हैं वह अवकाश-भोगी वर्ग की संस्कृति है। यह असंगति है, और केवल समाजवाद में ही इसका निराकरण हो सकता है। यदि विद्यार्थी तथा अन्य निम्न मध्यवर्ग के लोग 'आशापूर्ण इंतजार' की भावना को अपने हृदय के किसी कोमल कोने में पाल रहे हैं, तो उनके लिए संस्कृति-साहित्य का प्रश्न दुर्बोध है, यह संकटपूर्ण परिस्थिति दुर्निवार है और भविष्य नैराश्यपूर्ण है। लेकिन परिस्थिति इतनी विषम या निराशाजनक नहीं है। निम्न-मध्यवर्ग, और उसमें विशेषकर विद्यार्थी-वर्ग का आजादी की लड़ाई, समाजवादी क्रान्ति और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण में काफी हिस्सा रहेगा, किन्तु तभी जब वह अपनी वर्ग-स्थिति के प्रति सचेत हो तथा पूँजीवादी मानसिक संस्कृति से प्रेरणा न लेकर मजदूर वर्ग की संघर्ष-प्रणाली का अनुसरण करें। विद्यार्थी ऐसा कर रहे हैं, यह सन्तोष का विषय है।

पूँजीवादी समाज की ये असंगतियाँ समाजवाद में ही मिट सकेंगी, इसी कारण यह और भी आवश्यक है कि हम पूँजीवाद का अन्त करने

और समाजवाद क़ायम करने के लिए अभी से सङ्गठित प्रयत्न करें। इसीलिए यह और भी आवश्यक है कि पूँजीवादी मानसिक-संस्कृति द्वारा जनता का मानसिक-शोषण होने से रोकने के लिए हम एक 'सांस्कृतिक मोर्चे' का संगठन करें और अल्पवर्ग की संस्कृति के विरुद्ध जन-संस्कृति का निर्माण करें, ताकि जनता इस संघर्ष में केवल हाथ-पैर से ही क्रियाशील न हो, बल्कि अपने दिल और दिमाग़ की पूरी ताक़त से संघर्ष-रत हो, ताकि विद्यार्थी वर्ग मानसिक-गुलामी से छुट-कारा पाकर अपनी ढुलमुलयक़ीनी को कम कर सके और हम समाजवाद की मानसिक-संस्कृति की रूपरेखा अभी से गढ़ सकें।

अल्पवर्ग की संस्कृति से जनता वंचित रखी गई है। फिर भी जनता की अपनी मानसिक संस्कृति है! क्योंकि उसने तीन हज़ार वर्षों से सामन्ती समाज की संस्कृति का बोझ ढोया है, और आज पूँजी-वादी संस्कृति का बोझ ढो रही है, अतः उसकी अपनी मानसिक-संस्कृति न हो यह असम्भव-सी बात है। जनता की यह संस्कृति क्या है? वर्ग-संस्कृति का विकृत-रूप और जन-आकांक्षाओं की स्वाभाविक, प्रकृत अभिव्यक्ति ही उसकी मानसिक संस्कृति है। लोक-गीत, लोक-संगीत और लोक-नृत्य के रूप में यह संस्कृति हजारों वर्षों से जीवित चली आ रही है। इन गीत-संगीत और नृत्यों में जनता के श्रम और उसके सामाजिक जीवन के विविध कार्य-कलापों का वेदना-पूर्ण चित्रण है। किन्तु पूँजीवादी काल में इस संस्कृति का भी लोप होता जा रहा है, और उसकी विकृति बढ़ती जा रही है।

संक्षेप में जन-संस्कृति कुछ इस प्रकार की होगी:—

(१) उसमें जीवन के प्रति अन्ध-विश्वास, अविश्वास, सन्देह और शंकाएँ उत्पन्न करनेवाली सभी प्रवृत्तियों का बहिष्कार किया जाएगा।

(२) उसमें जीवन के प्रति उत्साह, अनुराग, उसकी विफलताओं

के प्रति जानकारी और अपने ऐतिहासिक-कार्य के प्रति मज़दूर-किसानों तथा निम्न मध्यवर्ग में सामूहिक चेतना उत्पन्न की जायेगी।

(३) वह शोषितवर्ग की मानसिक-संस्कृति होगी, अर्थात् शोषक-वर्ग को छोड़कर—जिसकी आज के सामाजिक जीवन में उपयोगिता उत्तरोत्तर कम होती जा रही है—सम्पूर्ण मानवता की संस्कृति होगी।

(४) यह जन-संस्कृति सामन्त-काल और पूँजीवाद की संस्कृति की उन समस्त निधियों और कामयाबियों को, जो सप्राण और प्रगतिशील हैं, सुरक्षित रखेगी और उसकी रूढ़िग्रस्त मृत परिपाटियों को अस्वीकृत कर देगी।

(५) यह जन-संस्कृति व्यापक और सर्वजन-सुलभ होगी। वह केवल मनोरंजक अथवा आध्यात्मिक न होगी, जिसका उपयोग ज़िन्दगी के अवकाश-क्षणों को किसी तरह गुज़ारना-मात्र हो, या दिमाग़ी कलाबाज़ी से अपने अहंकार को सन्तुष्ट करना हो; बल्कि वह जनता के प्रत्येक व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास में सहायक होगी, और वह प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए उसके गूढ़तम रहस्यों में पैठकर के जनता को निपुण बनाएगी, मनुष्य के सामूहिक और व्यक्तिगत जीवन को बदलने, ऊँचे से ऊँचे धरातल पर उठाने में सहायक होगी, एक नये मानव का निर्माण करेगी।

ये तो जन-संस्कृति के कुछ आदर्श हुए। इन आदर्शों को कार्य-रूप में परिणत करना विद्यार्थियों का भी कर्तव्य है। मैं यहाँ साहित्य का उदाहरण देकर आपको इस ओर उन्मुख करना चाहता हूँ, ताकि आप लोग जो विज्ञान, ललित-कलाओं जैसे चित्रकला, मूर्ति-कला, नाट्य-कला या संगीत-कला के विद्यार्थी हैं, या समाजशास्त्री और समालोचक हैं, अपने क्षेत्र के आदर्श बनाकर जन-संस्कृति के निर्माण-कार्य में लग जायें। जन-साहित्य की कुछ विशेषताएँ यह होंगी :

(१) उसमें संघर्षरत जनता के सुख-दुख, उसकी कठिनाइयों, सफलताओं और विफलताओं, उसके प्रेम, त्याग, घृणा, उदारता,

राग-द्वेष आदि का मार्मिक, कलापूर्ण और यथार्थवादी चित्रण होगा।

(२) उसमें जनता के जीवन का अनुभव, समाज की अन्य शक्तियों और प्रेरणाओं को पुरातन या नवीन वास्तविकता से अलग कर एकांगी चित्रण न होगा, वरन् जनता की संघर्षमयी जीवन-धारा का चित्रण होगा।

(३) उसमें जनता के संघर्ष और नित्य प्रति के जीवन का चित्रण न तो आदर्शवादी होगा, जिसमें जनता के प्रत्येक कार्य को, उनके विक्षिप्त क्रोध या असङ्गठित, निर्उद्देश्य विद्रोह को, या हारकर पीछे हटने और आत्म-विस्मरण, अवचेतनता तथा उच्छृंखलता को आदर्शमयी भाषा में गौरवान्वित किया जाता है, बड़े-बड़े प्रतीकों द्वारा, जिनमें हवाई और कल्पित जागृति, जोश और सङ्घर्ष की अतिरंजित तस्वीरें खींची जाती हैं, क्योंकि यह आदर्शवादी शैली का ही एक रूप है, खोखला और वस्तु-स्थिति की अज्ञानता का सूचक: और न उसमें पूँजीवादी-यथार्थवादी चित्रण ही होगा, क्योंकि वह यथार्थ का फोटोग्राफिक चित्र ही खींचता है, जनता के आत्मपतन, नैतिक-अधोगति का वीभत्स चित्र खींचकर हमें सुधारवाद की ओर प्रेरित करता है, जनता की भावी जीवन की आकांक्षाओं, आशाओं और स्वप्नों, उसके असन्तोष और विचलन का हमें आभास भी नहीं देता; अन्त में, उनमें केवल भावी जीवन की कोरी कल्पनाएँ ही न होंगी, बल्कि जनता की सामूहिक कमज़ोरियों को समझकर, उनके ऐतिहासिक लक्ष्य, प्रेरणा, सङ्घर्ष और आकांक्षा के प्रकाश में उनके जीवन का चित्रण सजीव और गत्यात्मक बनाया जायगा। अर्थात् उसकी शैली सामाजिक यथार्थवाद की शैली होगी।

(४) चूँकि समाज व्यक्तियों का समूह होता है, इसलिए सामाजिक यथार्थवाद या जन-साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम व्यक्ति ही होगा (यद्यपि कहीं समूह भी हो सकता है)। वह व्यक्ति

पूँजीवादी यथार्थवाद का वह निराला, समाज से अभंग व्यक्ति न होगा, जो समझता है कि वह सारे समाज के विरुद्ध खड़ा है एकाकी, और अपने कमरे के अन्दर मानसिक कलाबाज़ियाँ दिखाकर सारे समाज का रूप बदल रहा है; बल्कि वह ऐसा व्यक्ति होगा जिसमें समाज की आवश्यकता की चेतना उत्पन्न हो रही है, या हो चुकी है, जो अपनी सारी कमज़ोरियां (पुराने समाज की देन-स्वरूप) को लेकर भी इस चेतना के द्वार तक पहुँच जाता है; जीवन से भागने वाला मार्ग नहीं पकड़ता, जो रिमार्क के उपन्यास The Road Back के चरितनायक की तरह युद्ध की बीभत्सता से घबड़ाकर, जीवन से भागकर स्कूल-मास्टर नहीं बन जाता और यह कामना नहीं करता कि जो कुछ रक्तपात उसने देखा था वह समाप्त हो गया और अब शायद कभी न होगा। जन-साहित्य का व्यक्ति जिस निर्णय पर पहुँचेगा वह सारी शोषित मानवता का एक मात्र निर्णय होगा, अर्थात् शोषण के विरुद्ध सङ्घर्ष, अनवरत, सङ्गठित सङ्घर्ष। जटिल परिस्थितियों में जटिल सङ्घर्ष।

यह जन-साहित्य की एक हल्की रूप-रेखा है। अपने-अपने विषय के विद्यार्थियों को इसे ध्यान में रखकर स्वयं जन-संस्कृति के हर पहलू की रूप-रेखा बनाकर उसका सृजन करना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि ऐसी जन-संस्कृति, ऐसा जन-साहित्य कैसे उत्पन्न किया जाय, और विद्यार्थी इस सम्बन्ध में क्या कर सकते हैं।

हम देख चुके हैं कि संस्कृति फैलाने के अधिकांश साधनों पर सरकार का नियन्त्रण है, पूँजीपतियों का कब्ज़ा है। फिर हम क्या करें? विद्यार्थी-संघों के साक्षरता फैलाने के प्रोग्राम ही काफ़ी नहीं हैं, क्योंकि अमेरिका और इंगलैण्ड में जहाँ ९० प्रतिशत से ज्यादा लोग साक्षर हैं, वहाँ भी जन-संस्कृति की समस्या उतनी ही असाध्य बनी है, जितनी कि यहाँ। न जनता को साक्षर बनाने के लिये जन-संस्कृति

को टाला जा सकता है, क्योंकि जिस रफ़्तार से साक्षरता फैलाई जा रही है, उस रफ़्तार से भारत को साक्षर बनने में सदियाँ लग जाएँगी। फिर साक्षरता का भी कोई उद्देश्य होना चाहिए। हम जनता को इसलिए नहीं साक्षर बनाना चाहते कि आज अगर वह अलिफ़लैला और बैतालपचीसी के क़िस्से कंठस्थ किये है तो कल साक्षर होकर उसकी रुचि इतनी परिष्कृत हो जाय कि वह केवल रहीम के दोहे और गिरधर की कुंडलियाँ पढ़ने लगे। सरकारी साक्षरता-प्रोग्राम क्या इसी को अपना उद्देश्य नहीं बनाते? समाज की बुनियादी समस्याओं तक केवल साक्षरता जनता की पहुँच नहीं करा सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार जिन पुस्तकों को प्रकाशित कर जनता को पाठ्य-सामग्री प्रदान करना चाहती है उनमें युद्ध-सम्बन्धी विषयों पर एक पुस्तक-माला भी रहेगी ताकि जनता को युद्ध-सम्बन्धी विषयों की जानकारी भी होती जाय। इसके भीतर छिपे उद्देश्य का हम अनुमान कर सकते हैं। विद्यार्थी-समाज इस प्रकार की साक्षरता को शंका की दृष्टि से देखता है। इसका यह अर्थ नहीं कि विद्यार्थी साक्षरता-कार्य न करें। करें ज़रूर, परन्तु उसे जन-संस्कृति का एक अंग बनाकर। विद्यार्थियों को सीधी सरल भाषा में एक ट्रैक्टमाला की आयोजना करनी चाहिये जिससे साक्षरता के साथ-साथ सरल और रुचिकर भाषा में जन-जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर जनता का दृष्टिकोण भी विकसित किया जा सके।

दूसरे विद्यार्थी एक जन-नाट्यशाला* का निर्माण करें। सिनेमा रेडियो और प्रेस के बाद संस्कृति के प्रचार का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन नाटक ही रह जाता है।

तीसरे विद्यार्थियों को एक जन-गायन का आन्दोलन प्रारम्भ

---

* विशेष जानकारी के लिए देखिए—भारत की जन-नाट्यशाला (प्रगतिवाद)

करना चाहिए। चीन में आज यह आन्दोलन काफ़ी ज़ोर पर है। यहा तक कि हम कह सकते हैं कि चीन की जनता एक सामूहिक गायक बन गई है। क्रान्तिकारी और प्रगतिशील गीतों को किसी अच्छे गायक से स्वर-बद्ध कराके और सामूहिक रूप से उनका गाना सीखकर उन्हें हर सभा में गाना चाहिए और दर्शक जनता को भी उसमें शामिल करना चाहिए। जन-गायन एक प्रदर्शनात्मक मूल्य की वस्तु ही न होगा क्योंकि इसका असली महत्त्व जनता की ज़ुबान पर उन गीतों के चढ़ जाने में है जो क्रान्तिकारी और प्रगतिशील हैं। इसका परिणाम यह होगा कि संघर्ष में भाग लेना जनता के लिए एक आनन्द का विषय हो जायगा और उसकी ज़ुबान से जीवन-विरोधी विश्वास उत्पन्न करनेवाले गाने छूट जायँगे। हमारे हिन्दी-उर्दू साहित्य में क्रान्तिकारी भावनाओं की अभिव्यक्ति करनेवाली जो धारा फूटी है उसे जनता के जीवन के निकट लाना है। इससे न सिर्फ़ जनता को कलात्मक काव्य का रस मिलेगा बल्कि इन कवियों की जड़ें भी जनता में जम जायँगी, जिससे वे अपनी ज़िम्मेदारी के प्रति और भी सचेत हो सकेंगे।

इस प्रकार जन-संस्कृति के निर्माण के लिए विद्यार्थी फिलहाल तीन प्रोग्राम उठाएँ।

(१) प्रगतिशील पाठ्य-सामग्री के साथ साक्षरता-कार्य; (२) जन-नाट्यशाला का निर्माण; (३) जन-गायन का आन्दोलन; विद्यार्थी एक साथ ही इन तीनों सांस्कृतिक प्रोग्रामों को चलाकर जनता की नयी मानसिक-संस्कृति की नींव डाल सकते हैं और इस

उपन्यास Days of Hope की एक बातचीत याद आ रही है। स्पेन के दो सैनिक लोपेज़ और स्लेड कला के बारे में बात कर रहे थे। स्लेड ने कहा कि लड़ाई के मोर्चे पर लडनेवाली जनता के सैनिकों को कैसी कला की आवश्यकता होती है? ऐसी जो उनके काम की हो। ऐसा होने से, 'हो सकता है कि हम महान् ग्रन्थों का निर्माण न कर सकें, क्योंकि महान् ग्रन्थ हुक्म देकर तैयार नहीं कराये जा सकते ; लेकिन तो भी हम एक शैली की सृष्टि तो कर देंगे।' हम आज जनता के लिए जिस संस्कृति के निर्माण की बात कर रहे हैं, वह चाहे बूर्ज़्वा माप-दंडों से उच्चकोटि की न हो, लेकिन हमें उसका निर्माण करना है, और हमारा विश्वास है कि ऐसा करके हम जनता की उस भावी संस्कृति की नींव डाल जाएँगे, जो बूर्ज़्वा-संस्कृति से कहीं महान् होगी।

—:※:—

साहित्य में श्लीलता-अश्लीलता

कुतर्क और वितंडावाद के लिए हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं से अधिक उर्वर स्थान और कोई नहीं है। 'साहित्य में श्लीलता और अश्लीलता' का विवाद इसका उदाहरण है। इस विवाद में साहित्य को व्यर्थ ही घसीटा गया है, क्योंकि साहित्य का क्षेत्र व्यापक है और किसी भी साहित्य को नैतिकता-अनैतिकता के इतने छोटे घेरे में ठूँसकर नापा-जोखा नहीं जा सकता। फिर भी इस अ-साहित्यिक कसौटी पर परख करने की परम्परा उन लोगों ने चला रखी है जो न ललित साहित्य का सृजन करते हैं और न उसकी मूल समस्याओं से परिचित हैं। और इधर कुछ दिनों से सहयोगी 'जीवन साहित्य' में इस प्रश्न पर खासी बहस भी चल चुकी है। यद्यपि इन बहसों का मूल्य अधिक नहीं है, साधारण विवेक के लोगों में भ्रम फैलाने में, विशेषकर जब कि पुराने संस्कार कोई वैज्ञानिक और स्वस्थ दृष्टिकोण पैदा करने के मार्ग में अवरोध बने खड़े हों, वे विशेष रूप से सहायक होती हैं, और पाठक जिन धारणाओं से अभ्यस्त-से हैं उनका पिष्टपेषण कर उन्हें और भी पक्का बनाती हैं। परन्तु वे साहित्य की मूल-समस्याओं से ध्यान हटाकर व्यर्थ के प्रश्नों पर उसे केन्द्रित कर देती हैं, इस कारण ऐसी बहसें साहित्य की प्रगति में बाधक ही बनती हैं। इसलिए 'श्लीलता-अश्लीलता' की बहस में भाग लेना हमने कभी आवश्यक नहीं समझा, जैसे अनीश्वरवादी होते हुए भी एक समाजवादी धर्म के प्रश्न को प्रमुखता नहीं देता ; क्योंकि वह जानता है कि देश की मुख्य समस्याएँ आर्थिक और राजनीतिक हैं। फिर भी यदि कुछ लोग केवल विरोध करने की खातिर कहें कि समाजवादी धर्म के शत्रु हैं, वे धर्म

के अनुयायियों को फाँसी पर चढ़ा देंगे और धर्म तो मनुष्य की सनातन आवश्यकता है, अतः समाजवाद यदि धर्म को नहीं मानता तो उसमें रखा क्या है, वह 'अनुचित, त्याज्य और घृणित' है, तो यह जानते हुए भी कि अनर्गल प्रलापों से समाजवाद की प्रगति रोकी नहीं जा सकती, एक समाजवादी को सत्य का प्रकाशन करने के लिए ऐसे मिथ्या आरोपों का खंडन करना ही पड़ेगा।

सहयोगी 'वीणा' के फरवरी अंक में 'यही प्रगतिवाद है!' नाम से एक छोटी टिप्पणी है जिसमें 'हंस' में प्रकाशित दो रचनाओं को भद्दी और अश्लील कहकर विद्वान सम्पादक ने लिखा है कि इस तरह की रचनाएँ प्रकाशित होना ही प्रगतिवाद का ध्येय है तब तो यह प्रगतिवाद अत्यन्त अनुचित, त्याज्य और घृणित है।' मैं इस टिप्पणी का नोटिस न लेता, लेकिन मुझे बताया गया है कि अन्य कई मित्रों ने भी ऐसी ही धारणा बनायी है और दो एक पत्र भी इस सम्बन्ध में मुझे मिले हैं। खेद है कि विद्वान सम्पादक ने 'हंस' में प्रकाशित सैकड़ों रचनाओं में प्रकट प्रगतिवाद के ध्येय को जानने की चेष्टा नहीं की, और जिन दो रचनाओं का उन्होंने उल्लेख किया है उनके दृष्टिकोण या ध्येय पर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया है, बल्कि उन रचनाओं में प्रयुक्त कतिपय शब्दों और वाक्यों पर ही उन्होंने अपनी धारणा बना ली है। और फिर 'हंस' में प्रकाशित साहित्य को दृष्टि से हटाकर प्रगतिवाद को फतवा दे डाला है। मेरा विचार है कि साहित्य का मूल्यांकन करने का यह दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित और खतरनाक है।

अतः प्रगतिवादियों का क्या दृष्टिकोण है, श्लीलता-अश्लीलता या नैतिकता-अनैतिकता के प्रश्न पर, हम यहाँ संक्षेप में इसका स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं ताकि ऐसी बहसों में प्रगतिवाद को न घसीटा जाय।

प्रगतिवाद को शब्दों से विरोध नहीं है, शब्द जीवन की हकीकत के संकेत-चिन्ह हैं, अतः प्रगतिवाद किसी नैतिक-अनैतिक दृष्टि से शब्दों

को साहित्य में ग्राह्य-अग्राह्य नहीं मानता। तो भी प्रगतिवाद शब्दों का अनियन्त्रित प्रयोग अनुचित समझता है, अर्थात् उनके प्रयोग से अर्थ की सृष्टि होनी चाहिए, और यह एक भाषा-शास्त्र की कसौटी है। जो शब्द प्राचीन अन्धविश्वास-मूलक धारणाओं या सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण साहित्य में 'टैबू'—निषिद्ध कर दिये गये हैं, प्रगतिवाद केवल इसी कारण कि वे निषिद्ध हैं उनका बहिष्कार नहीं करता, क्योंकि इस निषेध का कारण किसी काल और समाज की प्रचलित नैतिकता की व्यवस्था ही थी, अतः प्रगतिवाद उस नैतिकता की एक ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से जाँच करता है, और यदि वह उस नैतिकता को आडम्बरपूर्ण और सामाजिक प्रगति का विरोधी पाता है, तो वह इस आडम्बर के आवरण खोलने के लिए, समाज के व्रणों का मवाद साफ़ करने के लिए निषिद्ध शब्दों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करता, यदि ऐसा करना आवश्यक हो जाता है। और प्रगतिवाद ऐसा इसीलिए करता है कि उसका उद्देश्य वैज्ञानिक आधार पर किसी भी पूर्व-समाज की नैतिकता से ऊँचे दर्जे की नैतिकता की विधेयात्मक रूप-रेखा का विकास करना है। अतः प्रगतिवाद के ध्येय के बारे में किसी को भ्रम में नहीं रहना चाहिए।

आशा है प्रगतिवाद के सम्बन्ध में इस प्रश्न को लेकर बहस करते समय, विज्ञ सम्पादक, विचारक और पाठक धारणाएँ बनाने के पूर्व अधिक जानकारी से काम लेंगे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

रात्रि के घने अन्धकार में अनेक टिमटिमाते दीपकों के बीच प्रखर ज्योति से जलते हुए एक विद्युत्-गैस की चमकती रोशनी में बैठकर हम निविड़ अन्धकार के घनत्व को भूल-सा जाते हैं। किन्तु जब वह गैस अचानक बुझ जाता है तो सहसा हमारी आँखों तले चारों ओर से घेर कर आत्मा को आच्छादित कर लेनेवाला अँधेरा छा जाता है, यद्यपि अनेक दीपक अपनी लौ हिला-हिलाकर अन्धकार की धारा को चीरते हुए क्षीण प्रकाश की रश्मियाँ वातावरण में फैलाते रहते हैं, और जैसा-कुछ-तैसा प्रकाश बनाये भी रखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हठात् देहावसान से हिन्दी-भाषियों के नेत्रों के आगे ऐसा ही अन्धकार छा गया।

भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ असमय मृत्यु हमारे जीवन की स्थायी स्थिति-सी बन गई है, दुःखद और मर्मान्तक पीड़ाजनक। हम अपने प्रेमचन्द, शरतचन्द्र को टॉलस्टाय, विक्टर ह्यूगो, बर्नर्ड शा की तरह, या अपने जयशंकर प्रसाद को, वाल्ट ह्वीटमैन और वर्ड्सवर्थ की तरह दीर्घजीवी नहीं बना सके, उन्हें और न जाने कितने असंख्य भारत-पुत्रों को असमय मृत्यु की गोद में हम सौंप चुके हैं, सौंपते जाते हैं। इसका उत्तरदायित्व किसी सत्ताहीन, अज्ञात, सन्दिग्ध दैव के मत्थे मढ़कर क्या हम अपने क्षोभ को कम कर सकते हैं? यह हमारे राष्ट्रीय पराभव और पिछड़ेपन का स्वाभाविक परिणाम है, इसका दायित्व हम

सब पर है, हमारे समाज पर है, हमारी परवशता पर है कि हम वह स्वास्थ्यकर परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं कर पा रहे, जिनमें मनुष्य सुखी और दीर्घजीवी हों। अतः हमारे साहित्य की अमा-निशा में दिनकर की तरह प्रचंड ज्योति से जलनेवाले विद्युत्-गैस एक-एक कर बुझते जाते हैं, बुझते जाते हैं और अब चारों ओर छोटे-छोटे दीपक ही टिमटिमा रहे हैं। इसका दायित्व हम पर ही है, इसकी चेतना हमें क्षुब्ध कर रही है।

आचार्य शुक्ल जी का जन्म सन् १८८४ ई० में बस्ती ज़िला के अगोना गाँव में हुआ था। आपने विश्वविद्यालयों की डिगरी के अर्थ में उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त की थी, केवल एफ० ए० पास किया था, किन्तु हिन्दी पर आपका जितना असाधारण अधिकार था उतना ही अंग्रेज़ी, संस्कृत, बँगला, उर्दू, फ़ारसी आदि भाषाओं पर। एफ० ए० पास कर और क़ानून की परीक्षा में विफल होकर आपने मिर्ज़ापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक की नौकरी कर ली। किन्तु आज से ३४ वर्ष पूर्व की असाहित्यिक परिस्थितियों में भी शुक्लजी साहित्य से अनुराग बनाये रहे, और 'आनन्द कादम्बिनी' और 'सरस्वती' में लेख लिखते रहे। आपके लेखों की गम्भीर विचार वस्तु ने और गवेषणात्मक समीक्षा-शैली ने हिन्दी संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया, और सन् १६०८ में काशी-नागरी प्रचारिणी सभा ने आपको 'हिन्दी-शब्दसागर' का सहकारी सम्पादक नियुक्त किया। स्कूल की अध्यापकी छोड़ आप एक दम साहित्य सेवा में लग गये। 'हिन्दी-शब्दसागर' के सम्पादन में आपका सहयोग जितना महत्व रखता है, उतना शायद ही अन्य किसी व्यक्ति का। एक-एक शब्द की व्युत्पत्ति का निर्णय करने के लिए शुक्लजी जैसे अध्यवसायी व्यक्ति ही देश के कोने-कोने का भ्रमण कर सकते थे। आठ-नौ वर्षों तक आप नागरी प्रचारिणी पत्रिका का सम्पादन करते रहे। फिर जब मालवीय जी ने आपकी विद्वत्ता और प्रतिभा का परिचय पाया तो आपको काशी हिन्दू-

विश्वविद्यालय में हिन्दी का अध्यापक नियुक्त कर दिया। बाबू श्याम-सुन्दरदास जी के पश्चात् शुक्लजी हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हो गये और इस समय वे काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के सभापति भी थे।

शुक्लजी का जीवन घटनाओ की तडक भडक, उतार-चढ़ाव से परिपूर्ण न था। वे शान्तिप्रिय थे, और शान्तिपूर्वक ही साहित्य-सेवा में आजन्म लगे रहे।

जिस समय शुक्लजी ने हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया उस समय हिन्दी का आलोचना-साहित्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। भारतेन्दु बाबू के पश्चात् श्रीबदरीनारायण चौधरी, पद्मसिंह शर्मा, बालकृष्ण-भट्ट और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने यद्यपि समालोचना की परिपाटी बना ली थी किन्तु उसमें गम्भीर शास्त्रीय समीक्षा का अभाव था। आचार्य शुक्ल ने सस्कृत और अंग्रेजी की समीक्षा-शैलिया का तुलनात्मक अध्ययन कर उनका समन्वय किया और एक अर्वाचीन समालोचना शैली की सृष्टि की, जो विचारात्मक और गवेषणात्मक होने के कारण अब तक की सभी शैलियो से अधिक प्रौढ़, सबल और परिष्कृत थी, और जिसकी प्रणाली केन्द्रित और संकेतात्मक थी।

उनके आलोचना-ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में अनूठे हैं। जायसी, सूर और तुलसी की समालोचनाएँ उनके गम्भीर पाण्डित्य का दिग्दर्शन कराती हैं। उनको पढ़ने से ज्ञात होता है कि शुक्लजी की समीक्षा दृष्टि कितनी पैनी और भारतीय साहित्य और संस्कृति में उनकी पैठ कितनी गहरी थी। इन कवियो की कृतियों का मूल्यांकन करते समय शुक्लजी ने उनके समकालीन समाज का भी विशद वर्णन कर यह पहिली बार प्रतिपादित कि कवि या कलाकर का अपने समाज से अविच्छेद्य रूप से संबद्ध है और उसकी कृतियो में उसके मानस पर पड़ी समाज की प्रतिक्रिया का ही प्रतिबिम्ब रहता है। अतः कवि अपने समाज की विचारधाराओं और मनोवृत्तियो से अपने को अछूता नहीं रख सकता।

शुक्लजी की पुस्तक 'काव्य में रहस्यवाद' उस समय निकली जब

कि रहस्यवाद के नाम पर हिन्दी-काव्य क्षेत्र में ऊल-जलूल और मनो-विकारपूर्ण साहित्य की बरसाती बाढ़ आ गई थी। रहस्यवाद क्या है, क्या कोई कवि जीवन से अलग होकर किसी इतर जगत् के गीत भी गा सकता है : इन प्रश्नों का उन्होंने ऊहापोह पूर्ण उत्तर दिया और साहित्य की रूढ़ बौद्धिक विलासिता का पूर्ण रूप से निरसन और समाधान किया।

यों तो हिन्दी-साहित्य के इधर कई इतिहास निकल चुके हैं किन्तु उनके 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' का स्थान सबसे ऊँचा है। इतना प्रामाणिक इतिहास अभी तक और कोई नहीं लिखा गया है। न जाने कितने कवियों को, जिनका अस्तित्व हम भुला बैठे थे, शुक्लजी ने खोज कर ढूँढ़ निकाला और हमारी काव्य परम्परा की विशृङ्खलित कड़ियों को एक सम्बद्धता और तारतम्यता प्रदान की। पहले उन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त विवेचन ही किया था; किन्तु अभी कुछ दिन हुए उन्होंने उसके नये संस्करण में हिन्दी की नूतनतम विचार-धाराओं और प्रवृत्तियों का भी विशद उल्लेख कर दिया है।

शुक्लजी एक महान् आलोचक ही नहीं थे वे एक श्रेष्ठ निबन्ध कार और कवि भी थे। उनकी पुस्तक 'चिन्तामणि' में क्रोध, करुणा उत्साह, घृणा, श्रद्धा, प्रेम आदि भावों और मनोविकारों पर स्वतंत्र और विश्लेषणात्मक लेख हैं। ये लेख, प्रतिपादन की शैली और सूक्ष्म पर्यवेक्षण में, बेकन और कार्लाइल के लेखों की कोटि में आते हैं। उनमें उनकी भाषा इतनी सबल, साहित्यिक और स्फूर्तिदायक है कि उनके प्रति अनायास ही श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो जाता है। इस पुस्तक पर उन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी मिला था।

एक कवि के रूप में वे उतने सफल न हो सके क्योंकि उनकी दार्शनिकता और गम्भीर विवेचनात्मक वृत्ति ने उनके कवित्व को भी गम्भीर बना दिया था, जिसके कारण उनकी कविता में वह सहज सरलता न आ पाई जो कि एक कवि को सर्वप्रिय बनाने के लिए आव-

श्यक है। तो भी 'लाइट ऑफ़ एशिया' के आधार पर लिखा 'बुद्ध-चरित' ब्रजभाषा का सुन्दर काव्य ग्रन्थ है। उससे ज्ञात होता है कि शुक्ल जी प्रकृति के कितने भावुक प्रेक्षक थे।

शुक्ल जी ने बँगला और अंग्रेज़ी से कई पुस्तकों के अनुवाद भी किये।

आचार्य शुक्ल भाषा शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान थे। वे भाषा की प्रगति और प्रवृत्ति को विशिष्ट रूप में ग्रहण करते थे। इनकी निखिल रचनाओं में भाषा-विषयक प्रयोगों में इतनी सावधानी पाई जाती है जैसी कि अन्यत्र दुर्लभ है। उनके प्रयोग इतने सन्तुलित और अर्थ-गाम्भीर्यपूर्ण हैं कि किसी शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द कभी उपयुक्त नहीं हो सकता और इसी से उनकी जागरूकता और महिमा का प्रकाश है। उनकी रचनाओं के व्यासंग में हिन्दी आत्म-निरीक्षण और अपनी उपजीव्यता के लिए परीक्षण करती जान पड़ती है। उन्होंने हिन्दी भाषा को स्वस्थ और जीवन-विधायक साहित्य देकर उसे गौरवास्पद बनाया है।

आजकल हिन्दी संक्रान्ति-काल से गुज़र रही है। समय नाज़ुक है। अनेक बाधाएँ सामने हैं। उन संकटों से बचने के लिए हम अपने अनुभवज्ञान-वृद्ध विद्वानों से बहुत कुछ सहायता पा सकते हैं, ऐसे समय उनकी परम आवश्यकता होती है। और नहीं तो उनके होने से एक प्रकार का मानसिक धीरज रहता है। आचार्य शुक्ल तो अपने जीवन के अधिकांश वर्षों में साहित्य-चिन्ता में ही सांस लेते रहे। उनके देहावसान से हिन्दी ने अपना जो खो दिया है उस स्थान की पूर्ति की आशा निकट भविष्य में नहीं है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के साहित्याकाश में अपनी ओजस्विनी प्रतिभा से सूर्य के समान प्रकाश-पूर्ण हैं जिनकी अपेक्षा में हिन्दी-साहित्य अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर रहा है।

उन्होंने साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में जिस अभिनव दृष्टिकोण की

स्थापना की उसको लेकर अभी बहुत कुछ काम करने की आवश्यकता है। नवीन क्रान्तिकारी दृष्टिकोण के कारण जो नवीन प्रभाव इस समय विश्व साहित्य में आये हैं उनको भारतीय समीक्षा पद्धति में अवतरित करना शुक्ल जी द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को सम्पूर्ति देना है। और, उनकी विरासत को आगे ले जाने का जो दायित्व हमारे कमज़ोर कन्धों पर आ पड़ा है उसके गुरुत्व का हम अनुभव कर रहे हैं।

—:※:—

एक महान् बौद्धिक परम्परा का अन्त

वाल्मीकि और कालिदास के बाद भारत ने रवीन्द्रनाथ टैगोर इतना बड़ा कवि उत्पन्न नहीं किया, और न कभी अपनी आत्मा का सन्देश देकर उसने इतना महान् प्रतिनिधि विश्व के अन्यान्य देशों में भेजा। अभी तक भारत की आत्मा, बुद्धि, कार्यक्षमता सदियों से कसी दासता की शृङ्खलाओं में ऊर्ध्व-श्वास ले रही थी; किन्तु ऐसे अवरुद्ध विकास के इतिहास की स्मृतियों का भार लेकर भी यदि वह रवीन्द्रनाथ को जन्म दे सकता है तो यह इस बात का सूचक है कि भारतीय जनता में नव जीवन की चेतना उत्पन्न हो रही है, और अपने इस नव-जागरण के साथ, चकबस्त और जोश के शब्दों में, इस 'क़ौम ने करवट ली' है।

रवीन्द्रनाथ भारत के नव-जागरण के प्रारम्भिक काल के गायक थे, और उन्होंने अपने गीतों से देश की सुप्त आत्मा को जाग्रत कर स्फूर्ति प्रदान की, मानवीय स्वाभिमान का भाव भरा और भारत को एक आदर्शपूर्ण भविष्य की नई दृष्टि दी। किसी देश के नव-जागरण के प्रारम्भिक काल के सृजनात्मक प्रयत्नों में जो अदम्य उत्साह, जो अटूट आशा, जो आनन्दातिरेक, जो सौन्दर्य-कल्पना, जो आदर्श-वादिता, जो निराशा और अवसाद रहता है, वह रवीन्द्रनाथ के काव्य में भी है, और इतनी प्रचुर मात्रा में कि सहसा प्रतीति नहीं होती, आश्चर्यचकित होकर निहारते रह जाना पड़ता है।

यह एक महान् बौद्धिक परम्परा थी, जो पुरातन से प्रेरणा लेती थी, वर्तमान के रुद्ध-जीवन में चेतना भर उसे उज्ज्वल भविष्य की ओर उन्मुख करती थी; जो स्वयं एक रूढ़ि न बन, नित अभिनव रूपों

में अपने को जीवित करती चलती थी। अब क़ौम को अपने मधुर, प्रेरक गीतों से जगानेवाले गायक की वीणा बन्द हो गई है, और उसके साथ उस महान् परम्परा का भी अन्त हो गया है जिसके ये गीत थे, क्योंकि क़ौम अब करवट लेकर उठ खड़ी हो रही है, और संघर्ष-पथ पर चलनेवाली क़ौम के अनुभव में अब कदाचित् वह उन्मत्त उल्लास, वह रंगीन आदर्श कल्पनाएँ न हों, अब कदाचित् अविराम संघर्ष के हर्ष, विमर्ष, अभावपूर्ण जीवन के अवसाद और उसके प्रति विद्रोह की चिनगारियों, प्रेम और प्रणय की, आशा और निराशा की कठोर वास्तविकता के ऐसे अनुभव हों जिनका रवीन्द्रनाथ और उनकी परम्परा में एक अस्पष्ट संकेत ही मिलता है; करवट बदलकर, खड़ी होकर, संघर्ष-निरत मानवता का यह अभिनव रूप भी महान् है, और एक नई महान् बौद्धिक-परम्परा का सूत्रपात्र करता है; लेकिन जिन मधुर रागिनियों ने उसे जगाया है, उनकी स्मृति वह कभी भूल नहीं सकती, उनके गायक के आभार को अस्वीकृत नहीं कर सकती।

रवीन्द्रनाथ की महत्ता इस बात में निहित है कि परिस्थितियों के अनुकूल जिस परम्परा को उन्होंने जन्म दिया था, अन्त तक वे उसके एकमात्र सूत्रधार बने रहे, उसे अपनी अद्वितीय बहुमुखी प्रतिभा से समृद्ध बनाते रहे, और भारत को इस बात का गर्व है कि उसके नव-जागरण के ऐतिहासिक प्रारम्भ-काल की कला और साहित्य की नवोन्मेषी परम्परा का सृजनकर्त्ता, प्रसारक और नेता रवीन्द्रनाथ जैसा महान् व्यक्तित्व था; और आज जब भारत अपने जागरण के दूसरे ऐतिहासिक काल में पदार्पण कर रहा है, तब वह रवीन्द्रनाथ और उनकी परम्परा द्वारा छोड़ी समृद्ध विरासत की ओर सगर्व नेत्रों से देखता है, और उसके महान् शिल्पी के प्रति गर्व, प्रेम और कृतज्ञता के आँसू उमड़ पड़ते हैं।

अपने अन्तिम पतनकाल में विश्व के पूँजीवाद ने, हर्बर्ट रीड के शब्दों में, केवल दो महान् कवि उत्पन्न किये हैं, वाल्ट ह्विट्मैन और

डी० एच० लारेंस; लेकिन ये दोनों महाकवि अपने प्रतिवाद के स्वर में ही महान् थे, आनन्द और उल्लास की अनुभूति की अभिव्यक्ति में नहीं। फ़ासिज़्म की ओर बढ़नेवाला पूँजीवाद एक कलाकार से प्रतिवाद की ही अपेक्षा कर सकता है; लेकिन अपने सीमित दायरे में अनेक अवरोधो के बीच विकासमान भारतीय पूँजीवाद एक श्रेष्ठ कलाकार को एक हद तक पहले आनन्द और उल्लास की अनुभूति भी प्रदान कर सका था, और रवीन्द्रनाथ में इस अनुभूति की अभिव्यक्ति का स्रोत भी प्रबल वेग से बहा है। [यदि स्वतन्त्र-भारत पूँजीवादी देशो के ही मार्ग पर चला तो शायद रवीन्द्रनाथ की परम्परा से मिली इस आनन्द और उल्लास की विरासत का भविष्य के कवि उपयोग न कर सकें, और यह विरासत नष्ट हो जाय; अतः रवीन्द्रनाथ की जीवन्त विरासत की रक्षा का भार न केवल कवियो पर है, वरन् भारत की सम्पूर्ण संघर्ष-रत जनता पर है।]

गत अस्सी वर्ष के भारतीय जीवन की शहज़ोरियाँ और कमज़ोरियाँ कवि रवीन्द्रनाथ के काव्यों, नाटकों, उपन्यासों, कहानियो, दार्शनिक विचारों, राजनीतिक-सामाजिक पुनर्संगठन की व्यवस्थाओं में समान रूप से व्यक्त हैं। मध्यकाल में एक राष्ट्र के जीवन में साठ वर्ष कुछ नहीं होते थे, लेकिन आज के क्रान्ति और संक्रान्ति काल में साठ वर्ष एक युग का विस्तार घेर लेते हैं, जिसमें अनेक परस्पर-विरोधी परिवर्तन हो जाते हैं, एक दूसरे को काटती हुई अनेक विचारधाराएँ बहती रहती हैं, जीवन में एक अपूर्व तीव्रगामिता, विरोधाभास और आध्यात्मिक अभाव और अवसाद रहता है। ऐसे साठ वर्षों की सम्पूर्ण आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करनेवाली कोई भी परम्परा इन परस्पर-विरोधी क्रिया-प्रक्रियाओ, विचारधाराओ और भावनाओं का अभिव्यञ्जन करेगी, यह एक सामान्य सत्य है। रवीन्द्रनाथ ऐसी ही परम्परा के स्रष्टा थे और साठ वर्षों तक अपनी रचनाओं और कलाकृतियों द्वारा वे इस परम्परा को इतनी व्यापक और विशद बनाने में समर्थ हुए कि

उसके अन्तर्गत इस काल की सम्पूर्ण भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति समाहित रही। ऐसी दशा में रवीन्द्रनाथ की कृतियों में कोई एक विचारधारा, दृष्टिकोण या भाव स्वर न मिलेगा। वह एक विविध रंगों का पुञ्ज है, जिसका सामूहिक दृश्य यद्यपि अत्यन्त मनोरम है, तथापि उसमें श्रेष्ठ रंग भी हैं, और साधारण, फीके, नष्टप्राय रंग भी हैं। अतः इस महान् परम्परा की कामयात्रियों की विरासत को सञ्चित कर अक्षुण्य बनाने का कार्य नई परम्परा का सूत्रपात करनेवाली सजग शक्तियों को उठाना चाहिए, क्योंकि इसके विविध रंगों की राशि में से प्रतिक्रियावादी, विकृत रुचि के पोषक उन क्षीण, विवर्ण, नष्टप्राय रंगों की ओर इंगित कर, उनके ही कारण रवीन्द्रनाथ की महत्ता प्रतिपादित कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि रवीन्द्रनाथ दार्शनिक दृष्टि से एक आदर्शवादी थे, और आदर्शवाद अपने चार हज़ार वर्षों के विकास में इतनी ऊँची-ऊँची चोटियों तक चढ़ चुका है, और इतने नीचे आध्यात्मिक पतन और विकृतियों के गर्त में गिर चुका है कि उसके कवि, कलाकार या विचारक के काव्य, कला या विचारों का मूल्यांकन कर उसकी विरासत को सञ्चित करते समय एक बड़ा खतरा उपस्थित हो जाता है। ज्ञात या अज्ञात रूप से प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उस परम्परा के, विचारों की दृष्टि से अस्वस्थ, काव्य और कला की दृष्टि से नगण्य अंशों को उच्च स्वर से उच्चरित कर कहती हैं—टैगोर इनके कारण महान् थे, टैगोर इनके कारण अमर रहेंगे।

यह खतरनाक प्रवृत्ति हमारे देश में कुछ हमारे गौरांग प्रभुओं ने उत्पन्न की है, कुछ हमारी तर्कहीन, पिछड़ी मानसिक दशा ने।

उदाहरण के लिए; कुछ लोग रवीन्द्रनाथ को एक दैवी शक्ति, एक ईश्वरीय प्रेरणा-प्राप्त व्यक्तित्व और अलौकिक महापुरुष सिद्ध करने की चेष्टा में संलग्न हैं, और इस प्रकार वे रवीन्द्रनाथ की विचारधारा के जीवन-सूत्र को तोड़कर—वह सूत्र जिसके द्वारा वे हमारे, जनता के जीवन से सीधे बँधे थे—रवीन्द्रनाथ को देवताओं के समान आकाश

में स्थित करना चाहते हैं, और जनता से, उसके दुःख-सुख के क्षणों के गायक को, छीन लेना चाहते हैं।

इतना ही नहीं, वे रवीन्द्रनाथ के काव्य के रहस्यवादी अंशों को जनता के समक्ष रखकर यह सिद्ध करते हैं कि चूँकि उनके काव्य और विचारो में एक अलक्ष्य शक्ति की उपस्थिति का संकेत है, जिसमें अपने को अन्तस्थ करने के लिए कवि की आत्मा आकुल है, इस कारण, वे एक महान् रहस्यवादी और सन्त थे, मानो रहस्यवादी और सन्त होना काव्य की श्रेष्ठता का एकमात्र मापदण्ड हो।

रवीन्द्रनाथ के काव्य और अन्यान्य प्रकार की साहित्यिक और कला कृतियो की महत्ता को विकृत करनेवाले ये लोग रवीन्द्र-परम्परा (जो, हम ऊपर कह चुके हैं, गत साठ वर्षो से समस्त भारत की बौद्धिक परम्परा थी) के रहस्यवाद के विरद गाया करते हैं, लेकिन इस प्रकार वे रवीन्द्रनाथ की असली महत्ता की अवमानना करते हैं। क्योंकि, और हम इस बात को पूरे ज़ोर से स्पष्ट कर देना चाहते हैं, रवीन्द्रनाथ अपने रहस्यवाद के कारण महान नहीं हैं; यदि वे महान् हैं तो अपने कल्पना-प्रधान यथार्थवाद के कारण, अपने गीतों के उत्कृष्ट काव्य के कारण, और अपनी चतुर्मुखी प्रतिभा के कारण, जिसने एक व्यक्ति के दायरे में कला और साहित्य का कोई भी अंग संयोजित करने से न छोड़ा था।

रवीन्द्रनाथ एक साथ ही कवि, दार्शनिक, उपन्यासकार, नाटककार, कहानी-लेखक, व्यंग-लेखक, गीतकार, संगीतज्ञ, स्वरकार, निबन्धकार, विचारक, आलोचक, राजनीति, समाज शास्त्र और विज्ञान पर पुस्तकें लिखनेवाले, देश-भक्त, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रतिपादक, शिक्षा-विशारद, नृत्य-कला के विशेषज्ञ, अभिनेता, बालकों के लिए कविता पुस्तकों के लेखक, पत्रकार, पत्र-लेखन कला के सफल लेखक, शिक्षक और नेता थे। उनका रहस्यवाद इस अनेकमुखी प्रतिभा का केवल एक अंग था. और गत साठ वर्षों की देश और काल की परिस्थितियों

से उत्पन्न हुआ था। पाश्चात्य पूँजीवादी लेखकों मे भारतीय रहस्यवाद के प्रति जो श्रद्धा और प्रेम उमड़ पड़ा है, और जिसकी नज़ीर देकर भारतीय प्रतिक्रियावादी विचारक गर्व से भर जाते हैं, वह निरुद्देश्य नहीं है।

यह श्रद्धा और प्रेम भारत को अपने प्राचीन में ही सीमित रहने का प्रोत्साहन है, ताकि विज्ञान और दर्शन की नई प्रगतियों से परिचित होकर भारतीय विचारक अपनी नई चेतना का उपयोग अपने गौरांग प्रभुओं के विरुद्ध न करने लगें। इसी का परिणाम है कि पाश्चात्य देशों में लोग रवीन्द्रनाथ को एक भारतीय सन्त और रहस्यवादी के रूप में अधिक जानते हैं, मनुष्य और असाधारण सौन्दर्य के कवि के रूप में कम।

ऊपरी सम्मान की ओट में रवीन्द्रनाथ की मौलिक प्रतिभा और महत्ता का पश्चिम में बहुत दिनों से अपमान होता आया है, और हमारे देश के कुछ लोग भी इस अपमान को सम्मान के रूप में ग्रहण कर हमारे ऊपर लादते आये हैं। रवीन्द्र-परम्परा की सजीव निधियों की इस प्रकार रक्षा नहीं की जा सकती।

स्वयं रवीन्द्रनाथ अपने प्रशंसकों की तरह दक़ियानूसी या प्रतिक्रियावादी न थे। वे आजीवन भारत और विश्व की नई प्रगतियों को अपनी सहानुभूति प्रदान करते आये थे। कला और साहित्य के क्षेत्र में वे एक प्रकार से सच्चे क्रान्तिकारी थे, उन्होंने बंगाली भाषा का मार्जन किया, अथवा यों कहें कि उसे फिर से गढ़कर सुष्ठु और सरल-सुगम रूप दिया, काव्य में अनेकानेक नये रूप-विधानों की सृष्टि की, उपन्यासों में बंकिम-परम्परा की सीमाएँ तोड़कर एक नया यथार्थ-वाद भरा, नाटकों में संगीत और नृत्य के साथ काव्य का समन्वित संयोग कर एक अत्यन्त भावना-प्रधान रूप की सृष्टि की तथा प्राचीन नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन कर उनका क्षेत्र व्यापक बनाया, पुराने संगीत की तान और आलाप-प्रधान प्रवृत्ति का परित्याग कर,

जिसके कारण काव्य और संगीत का सहयोग अनावश्यक हो गया था, उन्होंने संगीत को काव्य-प्रधान बनाया, अर्थात् उसे भावना के संयोग से अधिक हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी बना दिया, उन्होंने अनेक नई रागिनियाँ, नये स्वर-विधान बनाकर, और अपने अत्यन्त सुन्दर २००० गीतों को स्वर-बद्ध करके, बंगाल ही नहीं वरन् सारे भारत के संगीत में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी, नृत्य-कला की पुरानी वासना-प्रधान भाव-भंगी का परित्याग कर उन्होंने उच्च भावनाओं के कवित्व-मय नृत्य की सृष्टि की। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने कला और साहित्य की सीमाओं को इतना व्यापक बना दिया, जितनी कि वह पहिले कभी न थी और ऐसा करने में उन्हें दकियानूसी लेखकों और कलाकारों के विरोध का कम सामना नहीं करना पड़ा।

इसके विपरीत प्रगतिशील लेखक संघ और प्रगतिवाद के स्वागत और समर्थन में जो प्रेरक शब्द उन्होंने कहे हैं, वे आज भी कानों में गूँजते हैं। एक विचारक की दृष्टि से यद्यपि वे रहस्यवादी थे, तथापि वे जीवन से विरक्त नहीं थे। गीतांजलि में उन्होंने लिखा था :

'Deliverence is not for me in renunciation. I feel the embrace of freedom in a thousand bonds of delight.'

इसके अतिरिक्त वे एक मानववादी और शान्तिवादी थे, और एक ऐसी स्वतन्त्रता में विश्वास करते थे जिसमें न केवल बाह्य बन्धनों का अभाव हो, बल्कि अज्ञान, स्वार्थ, अन्ध-विश्वास, मृत रूढ़ियों, निष्क्रियता, धर्माचार्यों और धर्म-ग्रन्थों के अनुशासन द्वारा लगाये आत्मा के बन्धन भी न हों; और वे पाश्चात्य और प्राच्य की एकता के हामी थे क्योंकि ज्ञान-विज्ञान की नई प्रगतियों को वे किसी एक देश की निजी सम्पत्ति नहीं समझते थे। उनके विश्व-पर्यटनों ने उनके अन्दर यह भावना और भी दृढ़ कर दी थी।

सामाजिक क्षेत्र में तो वे अपने समकालीन व्यक्तियों से कहीं आगे थे। उन्होंने अशिक्षा दूर करने के लिए अनेक प्रयत्न किये और शान्ति-

निकेतन स्थापित कर शिक्षा का ऐसा आदर्श रखा जो अति आधुनिक और गौरव-पूर्ण है। यह उनके ही प्रयत्नों का फल है कि नृत्य और अभिनय की कलाओं का प्रतिपादन शिक्षित लड़कियों-द्वारा होने लगा है। वे केवल सहशिक्षा के ही पक्षपाती न थे, वरन् स्त्रियों की स्वतन्त्रता के भी हामी थे।

मौजूदा भारतीय राजनीति में यद्यपि उन्होंने सक्रिय भाग नहीं लिया, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वे लिबरल थे, या भारत या विश्व की राजनीति से तटस्थ थे। बंग-भंग और स्वदेशी-आन्दोलन में उन्होंने जो कार्य किया था, स्वदेशी-समाज की स्थापना के लिए जो व्यवस्था बनाई थी, उससे सभी परिचित हैं। जलियाँवाला बाग़ के विरुद्ध स्वर ऊँचा करनेवाले वे प्रथम भारतीय नेता थे, और यद्यपि वे गांधी जी के सत्याग्रह के कभी समर्थक नहीं रहे, तो भी उन्होंने भारत की सजग शक्तियों के स्वातन्त्र्य-संग्राम का हमेशा समर्थन किया, यहाँ तक कि विद्यार्थी-आन्दोलन भी, जिसे गांधीजी और दूसरे वर्ग शंकित दृष्टि से देखते रहे हैं, उनकी सहानुभूति से प्रेरणा पाता रहा। जर्मन, इटालियन और जापानी फ़ासिज़्म के वे सदैव विरोधी रहे, स्पेन और चीन की बहादुर जनता को अपने प्रेरक संदेशों से बल प्रदान करते रहे, और कम्युनिस्ट न होकर भी वे रूस की शान्ति-नीति और उसके महान् सांस्कृतिक, आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रशंसक बने रहे।

इसके अतिरिक्त वे भारत की आज़ादी के सच्चे इच्छुक थे, और ब्रिटिश सरकार ने जब-जब भारत की भावनाओं का निरादर किया उन्होंने उसका मुँहतोड़ जवाब दिया। मिस राथबोन के उत्तर में उन्होंने अपनी रोगशय्या से जो पत्र लिखा था, वह उनके हृदय में प्रज्ज्वलित स्वतन्त्रता की भावना का चिरस्मरणीय उदाहरण है।

रवीन्द्रनाथ टाकुर की परम्परा की यह सच्ची विरासत है, जिसे हमें सुरक्षित कर आगे ले जाना है। रवीन्द्रनाथ अपनी इन्हीं प्रगतिशील महानताओं के कारण हमारे प्रिय थे, हमारे शिक्षक और साथी थे।

हर परम्परा में, हर व्यक्ति में, कुछ कमज़ोरियाँ होती हैं। रवीन्द्रनाथ और उनकी परम्परा में भी थीं—उनके रहस्यवाद को जिसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं है, हम ऐसी ही कमज़ोरी मान सकते हैं। पुश्किन की तरह समृद्ध कुल में जन्म लेकर भी वे जन-जीवन के साथ अपने को एक प्राण न बना सके, और उनके साहित्य में समाज के ऊपरी वर्ग की भावनाओं, और मनस्थितियों का ही अधिक चित्रण है, लेकिन रवीन्द्रनाथ अपनी इन सीमाओं के प्रति सचेत थे, और शोषितों और श्रमिकों के सच्चे हितचिन्तक होने के कारण उन्हें इस बात का क्षोभ भी था :—

Not everywhere have I won access:
my ways of life have intervened
and kept me outside.

The tiller of the plough,
the weaver at the loom,
the fisherman plying his net,
these and the rest toil and sustain the world.
with their world-wide varied labour.

I have known them from a corner,
banished to a high pedestal of society
reared by renown.

Only the outer fringe have I approached
not being able to enter
the intimate precincts.

'The Great Symphony' का यह गीत अहंकार-ग्रस्त कला के रजत् स्तूपों में बन्द लेखकों और कलाकारों के लिए एक चेतावनी है। लेकिन अपने जीवन की इस असमर्थता की चेतना से क्षुब्ध रवीन्द्रनाथ रोगशय्या पर पड़े अपने अन्तिम दिनों में भी 'श्रमिकों' के उस जीवनाकांक्षा से भरे तुमुल गीत का स्वर सुनकर

उल्लसित हुए थे, जो अनादि काल से चलता आ रहा है, और अब एक लय युक्त क्रान्ति के निर्घोष में फूट पड़ना चाहता है :

'Their million voices mingle in a song,
their grief and joy of every day
harmonise in a mighty hymn to Life.

और, रवीन्द्र-परम्परा को आगे ले जाने के लिए यह ज़रूरी है कि जन-जीवन से सम्पर्क न होने का उन्हें जो अभाव क्षुब्ध कर रहा था, उसकी पूर्ति जन-जीवन, श्रमिकों के जीवन की 'mighty hymn to Life' की सृष्टि कर वातावरण को गुंजा दिया जाय। अपने इस महान् कवि, साथी और नेता के प्रति यही सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

—:❀:—

प्रात-प्रदीप और ऊर्मियाँ

आधुनिक हिन्दी कवि की अपनी अनेक अक्षमताएँ हैं। अपनी प्रतिभा के विकास के लिए उसे जो सामाजिक परिवेश मिला है वह किसी भी प्रकार उसके प्रति, उसकी कला के प्रति सहृदय नहीं है। इसी कारण अधिकांश कवि, जो सामाजिक प्रगति के ऐतिहासिक पहलू से अनभिज्ञ हैं, समाज के इस विरोधी वातावरण को एक चिरंतन स्थिति मान लेते है। यह स्वाभाविक भी लगता है, क्योंकि सामाजिक जीवन की आज तक की परम्परा भी तो बहुत कुछ ऐसी ही रही है, और वह प्रत्येक मनुष्य के संस्कारों में पैठकर उसकी भावनाओं को, उसकी बाह्य और आन्तरिक प्रतिक्रियाओं को अपने ही अनुरूप ढालती आई है; फिर कवि तो भावनाओं की दृष्टि से अत्यन्त संश्लिष्ट कोमलता का केन्द्र अपने में विकसित किये होता है। अतः उसकी प्रतिक्रियाएँ क़ीमती होती हैं, चाहे वह इस सामाजिक परिवेश के सम्मुख नतमस्तक रहे या उसका विरोध करे। आज के अधिकांश कवि निराशावादी हैं, तो उसका यह अर्थ नहीं कि वे असन्तोष की अभिव्यक्ति नहीं करते—सन्तुष्ट व्यक्ति निराशावादी कैसा? अतः हमें निराशावादी कवियों के व्यक्तिगत उद्‌गारों का भी सामाजिक आधार ढूँढ़ना चाहिए, क्योंकि व्यक्तिगत उद्‌गार भी समाज-प्रभावित होते हैं और निराशापूर्ण-उद्‌गार क्या यह स्पष्ट नहीं करते कि वह समाज कैसा है जो व्यक्ति के अन्दर ऐसी अस्वस्थ विकृतियाँ उत्पन्न करता है? श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की कविताएँ इसी दृष्टि से वर्तमान समाज की कड़ी आलोचना हैं। वैसे कहने को कहा जा सकता है, और कहना

अनुचित भी न होगा कि 'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्मियाँ' की अधिकांश कविताएँ प्रगतिशील नहीं हैं, और वे छायावाद की परम्परा में ही आती हैं। 'ऊर्मियाँ' में आकर 'अश्क' छायावाद के दायरे से निकलते से दिखाई ज़रूर पड़ते हैं, लेकिन अभी तक वे उस दायरे से एकदम बाहर नहीं आ पाये हैं। और छायावाद की परम्परा के कवि होने के कारण 'अश्क' की कविताओं की सीमाएँ भी छायावाद की हैं, उनकी शहज़ोरियाँ और कमज़ोरियाँ भी छायावाद की हैं। अर्थात् उनकी निराशा की अभिव्यक्ति में गहराई है, हृदय को द्रवीभूत करने की शक्ति है लेकिन एक व्यापक दृष्टिकोण का अभाव है, ऐसे दृष्टिकोण का जो नित्यप्रति के जीवन की आशा और निराशा उत्पन्न करनेवाली घटनाओं के आर-पार देख सके। 'अश्क' की कविताओं में कवित्व है, हृदय की निगूढ़ भावनाओं को सरल, स्वाभाविक ढङ्ग से व्यक्त करने की क्षमता है, और उनकी कला महादेवी जी की कला की तरह सूक्ष्म-दर्शी और प्रौढ़ भी है। अतः यदि 'अश्क' की इन दो कविता पुस्तकों की अधिकांश कविताएँ सामान्य अर्थ में प्रगतिशील नहीं हैं, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनमें कवित्व की कमी है या हृदय को स्पर्श करने की शक्ति और कल्पना की ऊँची उड़ान नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनमें सौन्दर्य और सत्य का अभाव है। छायावाद की या पिछले किसी भी युग की कविता के विषय में ऐसा कहना असंगत और संकुचित मनोवृत्ति का परिचय देना होगा। यदि ऐसा होता तो वह हमारे हृदय को स्पन्दित न करती। छायावाद, या यहाँ पर 'अश्क' की कविता को कहाँ से सौन्दर्य और सत्य प्राप्त हुआ है? वर्तमान समाज की असंगतियों से, जिसने प्रत्येक मनुष्य का जीवन अनिश्चित बना दिया है, जिसने उसके व्यक्तित्व के विकास के द्वार बन्द कर दिये हैं, जिसने उसकी भावनाओं को एक ऐसे ढाँचे में ढाल दिया है कि उनका स्पन्दन समाज-विरोधी दृष्टिकोण को जन्म देता है। और चूँकि प्रत्येक व्यक्ति इस चारों दिशाओं की विषमता का अनुभव करता है,

इस कारण छायावादी कवियों के नैराश्यपूर्ण उद्गार और पलायन-वादी वृत्तियाँ उसे सुखकर लगती हैं, सत्य लगती हैं। और, हमारे वर्तमान समाज-सम्बन्ध इन विषमताओं को असली जामा पहना कर उनकी अभिव्यक्ति को सौन्दर्य प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार छायावाद की कविता में हमें सौन्दर्य और सत्य दोनों दिखाई देते हैं, यद्यपि ये दोनों आधुनिक समाज द्वारा निरूपित हैं, अतएव सीमित हैं। इस दृष्टि से 'अश्क' की कविताओं को इस विषमता की सुन्दर अभिव्यक्ति कह सकते हैं। और मुझे खुशी है कि कहीं-कहीं इस अभिव्यक्ति में इतनी स्वस्थता भी है जो 'अश्क' को नयी दृष्टि, नये सौन्दर्य-मूल्यों और नये सत्यों के आँगन में खींच ले जाय—कला की प्रौढ़ता के साथ।

कविताओं के कुछ टुकड़ों की बानगी दिखाकर यह सिद्ध करना आसान काम है कि देखिये 'अश्क' की कविताएँ कितनी मधुर हैं, उनमें कैसी सरल अभिव्यक्ति है, भावों का कैसा हृदय-स्पर्शी स्रोत बहा है, या कि वे ऐसे सुन्दर चित्र देती हैं कि मन मुग्ध हो जाता है। मैं यह सब नहीं करूँगा, क्योंकि इतना कहना काफ़ी समझता हूँ कि दोनों कविता पुस्तकें अनेक ऐसी ही पुस्तकों की अपेक्षा अधिक ऊँचे स्तर की हैं, और पाठक उन्हें पढ़कर उनकी कला से निराश न होगा। मैं यहाँ पर यह समझने की चेष्टा करूँगा कि इन पुस्तकों में व्यक्त 'अश्क' का प्रेम के प्रति दृष्टिकोण कितना स्वस्थ या अस्वस्थ है, क्योंकि 'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्मियाँ' की अधिकांश कविताएँ प्रेम-सम्बन्धी हैं और इस जाँच से कवि और पाठक दोनों को लाभ होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। यहाँ इसकी आवश्यकता इसलिए भी है कि 'अश्क' के अपने व्यक्तिगत जीवन के उतार-चढ़ाव की, उसके भाव-अभाव की झलक हमें इन कविताओं में मिलती है। और, इस कारण अन्य कवियों की अपेक्षा 'अश्क' की कविताओं में अधिक सचाई है। तात्पर्य यह कि यदि 'अश्क' को विरह-वेदना सहन करनी पड़ी है तो उन्होंने अपने काव्य में आँसू बहाये हैं, और यदि पुनः उनके जीवन में प्रेम का

स्पर्श हुआ है तो वे पुलकित और उल्लसित भी हुए हैं और इस रोदन और उल्लास ने प्रेम के प्रति उनके दो दृष्टिकोण विकसित किए है, जिनके कारण उनकी कविताओं में कम-से-कम व्यक्तिगत सचाई तो आ ही गई है। छायावाद के अनेक कवियों की तरह वे निरन्तर अश्रुओं का व्यापार ही नहीं करते रहे हैं, यह उनकी कविता की शक्ति है।

'प्रात-प्रदीप' 'अश्क' की स्वर्ग-गता पत्नी शीला को समर्पित है और उसमें सन् १६३६ से ३७ तक की कविताएँ ही संग्रहीत हैं। उनकी जीवन-संगिनी के वियोग का शोक इन कविताओं में छाया हुआ है। 'प्रात-प्रदीप' कवि का ही प्रतीक है, जो 'विहान' में अपना 'अवसान' देख रहा है। 'अश्क' के अन्दर इस 'अवसान' के समय भी एक चेतना है :

इतना क्या कम था तुम आईं,
उड़ते - से पक्षी की नाईं,
चार घड़ी को जीवन लाईं,
जड़ता गति होकर वह निकली
उत्फुल्लित अविराम !

अर्थात् प्रियतमा के मिलन और प्रेम में जीवन लाने और जड़त को गति देने की शक्ति है। और कवि व्यक्तित्व का विकास करनेवाले इस प्रेम से वंचित नहीं होना चाहता, अतः उसकी आत्मा चीख उठती है :

चल दोगी कुटिया सूनी कर
इसी घड़ी, इस याम !

लेकिन कवि की यह स्वस्थ चेतना, जिसमें दो प्रेमियों का मिलन दोनों के व्यक्तित्व के विकास का कारण समझा जाता है, जीवन की विषमता से कुण्ठित हो जाती है, और कवि में एक मिथ्या-सत्य का आभास देनेवाली चेतना जग जाती है :

समझाता हूँ अपने दिल को,
माँग न पागल प्यार !

...   .

क्या रक्खा है मनुहारों में,
क्या आतुर अभिसार ?
एक क्षणिक सुख, उसके पीछे,
दुख का पारावार !

पहले दृष्टिकोण से यह दृष्टिकोण भिन्न है। अस्वस्थ है। इसके पीछे प्राथमिक मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रिया है, जो उसे मृत्यु देखकर होती थी और उसे भयभीत कर जीवन को माया और भ्रम समझकर, उससे भागकर वनों में तपस्या और उपासना करने को प्रेरित करती थी। उस पलायन में जिस प्रकार चिर-जीवन की आकांक्षा के पीछे मनुष्य की निस्सहायता और भय का भाव था, उसी प्रकार आज के मनुष्य के इस पलायन या प्रेम और सुख के क्षणों को क्षणकालिक मानने की वृत्ति के पीछे सामाजिक प्रतिबन्धों से उत्पन्न जीवन की अनिश्चितता के प्रति भय और कुण्ठा का भाव है। कवि इस अनिश्चितता की अवस्था को चिरंतन मानकर उसके आगे घुटने टेक देता है और यहीं से उसकी भाव-प्रतिक्रियाएँ विकृत होने लगती हैं। वह गाता है :

भला न मेरे सुख-सपनों को
होने दो साकार !
रोको नहीं अश्रुओं का पर,
पागल पारावार !

विरह और आँसुओ से इतना प्रेम क्यों ? क्योंकि प्रेम और सुख के क्षण छोटे हैं, दुःख का पारावार अनन्त है, इस कारण वह अधिक सत्य है। और, कवि अपनी आत्मा को आघात पहुँचाने, पीड़ा सहने की वृत्ति को अपने अन्दर जगा लेता है। उसे विरह से प्रेरणा मिलती

है, मिलन से नहीं। और वह पुराने प्रतीकों को लेकर प्रेम के सम्बन्ध की व्याख्या करता है :

तुम हो दीपक, मैं परवाना।

इस विकृति की परिणति इसी में होनी स्वाभाविक थी। दो प्रेमियों के मिलन की परिस्थितियाँ हमारे समाज-सम्बन्धों को व्यक्त करती हैं। 'प्रतीक्षा' में 'अश्क' ने आशा की थी—'कर दोगी नीरस जीवन में, नव रस का संचार !' यह मिलन जिस समाज-सम्बन्ध का द्योतन करता है, क्या वह 'दीपक और परवाने' के समाज-सम्बन्ध से भिन्न नहीं है ? पहले में मिलन 'नव रस का संचार'—आत्म-विकास का सूचक है, दूसरे में दीपक अलग जलता है और परवाना उसके चारों ओर दीवाना हो फिरता है और मिलन होते ही उसे प्राण गँवाने पड़ते हैं—मिलन में भी उसके पर जलते हैं और यातना सहनी पड़ती है। आज तक के अधिकांश कवियों ने प्रेम के इन जैसे अनेक प्रतीकों का मुक्त-प्रयोग किया है, क्योंकि इन प्रतीकों को प्रेम का आदर्श भी बना लिया गया है ! इसलिए यदि 'अश्क' ने उनका प्रयोग किया है और दीपक और परवाने के परस्पर-सम्बन्ध को आदर्श मान लिया है तो अकेले उन्हीं को दोषी नहीं कहा जा सकता। और, साधारणतया उनके लिए ऐसा मानना स्वाभाविक भी था। अब तक के समाज-सम्बन्ध—जिनमें स्त्री पराधीन और वासना तृप्ति का साधन रही है, जिनमें उन्मुक्त प्रेम पर प्रतिबन्ध लगते आये हैं, और जब कभी भी ये प्रतिबन्ध शिथिल पड़े हैं या टूटे हैं तो स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों का आदर करने के लिए नहीं वरन उनका अपमान करने के लिए, जिनमें प्रेमी या प्रेमिका का मिलन उक्त कारणों से असंभव रहा है, और उनके मिलन की दशा पर 'पाप' की चेतना की छाया रही है, जिसमें प्रेम मनुष्य के आत्म-विकास का साधन न रह कर आत्मघात का साधन बना है, जिस आत्मघात को समाज की वर्ग-भावना ने प्रश्रय दिया है, सींचा है और शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनू या ऐसे ही अलग-अलग विरह में

तिलतिल कर अस्तित्व मिटानेवाले प्रेम के 'हीरो' उत्पन्न किये हैं—भावनाओं को विकृत कर ऐसा ही दृष्टिकोण बनाते आ रहे हैं अतः आज का छायावादी कवि यदि दीपक और परवाने, चाँद और चकोर के उपमान प्रयुक्त करता है तो उसकी मानसिक स्थिति के प्रति हमें सहानुभूति ही दिखानी चाहिए, क्योंकि असल दोष समाज-सम्बन्धों का है। कवि का दोष इतना ही है कि वह इतना चेतन नहीं कि इस दृष्टिकोण के सामाजिक आधार को समझ सके। उसका यह सोचना कि चूँकि उसे व्यक्तिगत जीवन में प्रियतमा का वियोग सहना पड़ा है तो उसके उद्गार ऐसे होंगे ही, भ्रामक है, और ऐसा कहते समय मैं यह नहीं भूल जाता कि जब समाज-सम्बन्ध प्रेम को उन्मुक्त कर देंगे, उस समय भी संयोग-वियोग के मौके व्यक्तियों के जीवन में आएँगे और उनकी अभिव्यक्तियों में आशा और निराशा दोनों होंगी। लेकिन उस आशा और निराशा का स्वरूप दूसरा होगा, निराशा के क्षण व्यक्ति का जीवन-दर्शन व्यक्त करने वाले दृष्टिकोण को अवैज्ञानिक न बना देंगे।

'प्रात-प्रदीप' की कविताओं में प्रकृत विह्वलता है, लेकिन उनमें व्यक्त दृष्टिकोण महादेवी जी के दृष्टिकोण की ओर बढ़ता दिखाई देता है। 'अश्क' की व्यक्तिगत वेदना भी इसका एक कारण है। लेकिन 'ऊर्मियाँ' में 'अश्क' पुनः अपनी पहली चेतना की ओर अग्रसर हुए हैं कि प्रेम दोनों प्राणियों के व्यक्तित्व के विकास का साधन है, अतः 'ऊर्मियाँ' उल्लास की अभिव्यक्तियों से मुखरित हैं, यद्यपि बीच-बीच में 'दीपक-परवाने' वाला प्रेम का दृष्टिकोण भी पीछा करता दिखाई देता है :

> पर पागल परवाने ही
> सखि, जग में पूजे जाते!
> जो जलते हैं ज्वाला में
> औरों को नहीं जलाते!

मधूलिका, अपराजिता और किरणवेला

"रामेश्वर शुक्ल 'अञ्चल' नवीन हिन्दी काव्य का क्रान्तिदूत है। मैं उसे क्रान्ति का स्रष्टा भी कह सकता हूँ यदि स्रष्टा शब्द से केवल सृजन-कर्ता का आशय हो।......

"क्रान्ति उसने की है, छायावाद की मानवीय किन्तु अशरीरी सौन्दर्य कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कृतियों द्वारा।......इस क्रान्तिदूत का सन्देश है तृष्णा, लालसा, प्यास। तृष्णा सौन्दर्य की, लालसा रूप की, प्यास प्रेम की। सौन्दर्य नारी का, रूप व्यक्त, प्रेम विनाशी अथवा जो विनष्ट हो चुका है। पूछा जा सकता है कि क्या यह कोई नया या क्रान्तिकारी सन्देश है?"—नन्ददुलारे वाजपेयी (अपराजिता की भूमिका में)

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने जिस प्रश्न की पाठकों से आशा की है उसका उत्तर वे अपनी भूमिका के पहले वाक्य में ही दे चुके हैं। उसी को उन्होंने हिन्दी काव्य की परम्परा के क्रम-विकास की विशद व्याख्या कर तर्क-संगत साबित करने की कोशिश की है। अर्थात् यह दिखाया है कि छायावाद की अशरीर भावनाओं की स्वाभाविक प्रति-क्रिया के रूप में ही अञ्चल की कविता में स्थूल की तृष्णा और लालसा जागरित हुई है, यह एक नैसर्गिक विकास है और इसी कारण क्रान्तिकारी है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के तर्कों से पाठकों को अवगत करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि वाजपेयी जी ही हिन्दी के पहले अधि-कारी आलोचक हैं जिन्होंने अञ्चल की कविताओं को न केवल सहानुभूति प्रदान की, जब कि उनके ही शब्दों में 'इस विद्रोही के

'गदले गीत' अरुचिकर हो रहे थे', बल्कि इस तथ्य का अन्वेषण भी किया कि अञ्चल की कविता में क्रान्ति का सन्देश है, और अञ्चल क्रान्ति का अग्रदूत है। 'अपराजिता' के पूर्व 'मधूलिका' प्रकाशित हुई थी, और उसके भूमिका लेखक श्री विनयमोहन शर्मा ने 'अञ्चल' की कविता के क्रान्ति-तत्व की ओर कहीं संकेत नहीं किया ; उन्होंने केवल इतना ही स्वीकार किया कि 'अञ्चल' की कविता में 'यदि एक ओर यौवन का प्रचण्ड, निर्बन्ध प्रवाह है तो दूसरी ओर है अनुभूति की विचारोत्तेजक आँधी।' लेकिन वाजपेयी जी ने जब अञ्चल की कविता में क्रान्ति-तत्व की अवस्थिति स्वीकार की तो नये आलोचकों, विशेष-कर प्रगतिवादी आलोचको के लिए मार्ग साफ़ हो गया और वे अपनी आलोचनाओं में वाजपेयी जी से भी आगे बढ़ गये, क्योंकि जो कुछ भी हो, वाजपेयी जी ने अपनी व्याख्या में यह स्पष्ट कर दिया था कि 'अञ्चल' की कविता का क्रान्ति-तत्व हिन्दी-कविता में अभिव्यक्त भाव-नाओं के क्रम-विकास के तर्क से ही निरूपित है, वास्तव में क्रान्ति क्या है, दार्शनिक अथवा समाज-शास्त्रीय दृष्टि से क्रान्ति की भावना क्या है, और क्या 'अञ्चल' की कविता उन भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है, इन मापदंडों से उन्होंने जाँच नहीं की थी। कदाचित वाजपेयी जी इन कसौटियों पर अञ्चल की कविता को जाँचना भी नहीं चाहते थे। अतः हिन्दी-कविता के विकास-क्रम के चौखटे के अन्दर रखकर ही उन्होंने अञ्चल को क्रान्ति का अग्रदूत कहा था। लेकिन वाजपेयी जी ने यदि हिन्दी काव्य-परम्परा द्वारा निरूपित सीमाओं में बाँधकर तृष्णा, लालसा, प्यास के सन्देश को क्रान्तिकारी कहा था, तो नये आलोचक इन सीमाओं का विचार न कर केवल 'क्रान्तिकारी' शब्द से प्रभावित हो गये और वे अञ्चल की कविता के साथ 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग उन अर्थों में करने लगे जिन अर्थों में उसका प्रयोग समाज-शास्त्र में अथवा आमतौर पर राजनीति में किया जाता है। परन्तु समाज-शास्त्र या राजनीति में क्रान्ति का अर्थ समाज में बहुत

व्यापक और बुनियादी परिवर्तनों का सूचक होता है और अञ्चल की कविता क्या वास्तव में इन परिवर्तनों की आवश्यकता के प्रति सचेत है, यदि है तो कहाँ तक और कैसे है, इस दृष्टि से आलोचकों ने जाँच नहीं की। परिणाम यह हुआ कि यद्यपि अञ्चल को कविता की प्रशंसा में अन्य किसी प्रतिभावान तरुण कवि की अपेक्षा अधिक लिखा गया है फिर भी 'इस विद्रोही कवि के 'गदले-गीत' अरुचिकर हैं।' और स्वयं अञ्चल इस बात को जानते हैं। कारण स्पष्ट है कि आलोचकों ने अञ्चल के काव्य के विकास-क्रम को स्पष्ट रूप से समझने की चेष्टा नहीं की और न उनके काव्य की अपेक्षा में क्रान्ति-तत्व की जाँच ही की। फलतः पाठकों की स्मृति में 'मधूलिका' और 'अपराजिता' के अञ्चल की अभिव्यक्तियाँ ही प्रबल हो उठती हैं, और 'किरणवेला' या उसके बाद की कविताओ के नये घुमाव दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। और, जब प्रशंसक आलोचक नयी कविताओं की कुछ पंक्तियों के आधार पर अञ्चल को क्रान्ति का अग्रदूत या क्रान्ति का स्रष्टा कहते हैं, और अञ्चल की काव्य-धारा की अधिकांश अभिव्यक्तियों का अस्तित्व भी नहीं स्वीकार करते, तब पाठको के हृदय में यह बात नहीं उतरती। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने, काव्य-परम्परा को सीमाओं के अन्दर बाँधकर ही सही, अञ्चल के तृष्णा, लालसा, और प्यास के आदर्श को सामाजिक दृष्टिकोण से न जाँच कर जो स्वीकृति प्रदान की है और उससे तर्कहीन प्रशंसा की जो परिपाटी चल पड़ी है, उसने अञ्चल की काव्य-प्रतिभा के विकास को गहरा धक्का पहुँचाया, और उन्हें अपने काव्य की कलागत त्रुटियों और दृष्टिकोण की सकीर्णताओं के प्रति बेखबर कर दिया। इससे हानि अधिक हुई लाभ कम, क्योंकि यदि अञ्चल की कविता के विकास-क्रम को देखा जाय तो यह ज्ञात होता है कि उनमें चेतना का विकास अभी एकांगी ही हुआ है, वे एक दिशा में तो काफ़ी आगे बढ़े हैं, लेकिन दूसरी दिशाओं में वे अपनी पहली जगह पर ही हैं, और इससे पाठकों के हृदय का द्वन्द

दूर नहीं हो पा रहा, आलोचक जो कहते हैं पाठक उस पर विश्वास नहीं कर पाते। आलोचकों को इस पेचीदा परिस्थिति को समझने की चेष्टा करनी चाहिए, ताकि उनके वक्तव्य ऐसे न हों जो कवि को भी भ्रम में रखें और पाठकों को भी और कवि का विकास ही रोक दें।

वाजपेयी जी का यह कथन सत्य है कि अञ्चल अभी मार्ग में हैं। इस कारण और भी आलोचकों को उन्हें साध्य-प्राप्त कवि के रूप में पेशकर उनके आगे बढ़ते क़दमों को रुक जाने की प्रेरणा न देनी चाहिए।

अञ्चल के तीन कविता-संग्रह अभी तक प्रकाशित हुए हैं, जिनका उल्लेख प्रारम्भ में ही हो चुका है। उनकी सारी कविताएँ पढ़ जाने के बाद तीन प्रश्न उठते हैं—नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण क्या है? और उनके काव्य में भावनाओं की गहराई, अभिव्यक्ति की परिष्कृति कितनी है अर्थात् उनमें काव्य-गत सौन्दर्य कैसा है? पहले दो प्रश्न अञ्चल के विरोधी और समर्थक आलोचकों के कथनों से भी प्रेरित हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उनकी व्याख्या अञ्चल के काव्य से ही सम्बन्ध रखती है।

नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण क्या है? नारी के प्रति इसलिए कि उनकी अधिकांश कविताओं में नारी को लक्ष्य करके ही तृष्णा, लालसा, प्यास का आदर्श निरूपित हुआ है। छायावाद की अशरीरी भावनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया नारी के प्रति उनके दृष्टिकोण के रूप में ही सब से पहले व्यक्त हुई। इस दृष्टिकोण की जाँच श्री नन्ददुलारे वाजपेयी की तरह काव्य-परम्परा के क्रम-विकास की दृष्टि से ही करना त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि इस तरह केवल इतना ही साबित किया जा सकता था कि यह दृष्टिकोण एक प्रतिक्रिया है और इसमें नवीनता है। नारी के प्रति काव्य में एक नये दृष्टिकोण की स्थिति को स्वीकृति प्रदान करने के अतिरिक्त वाजपेयी जी की प्रणाली से अधिक प्रकाश नहीं पड़ सकता था। परन्तु नारी एक सामाजिक प्राणी है, और उसके प्रति

कोई भी दृष्टिकोण कतिपय सामाजिक सम्बन्धों का निर्देश करेगा और ये सामाजिक सम्बन्ध कहाँ तक उचित अनुचित सामाजिक विकास में अवरोधक या सहायक है, इसकी जाँच किये बिना निश्चित नहीं किया किया जा सकता कि कोई दृष्टिकोण क्रान्तिकारी है अथवा नहीं। अञ्चल के पाठक अपने रूढ़ संस्कारों की चेतना से उनके नारी के प्रति दृष्टिकोण की जाँच करते हैं, और उसे अनुचित मानते हैं, जब कि उनके प्रशंसक आलोचक अत्यन्त संकुचित मापदंड का प्रयोग कर इस प्रश्न को टाल देना ही उचित समझते रहे हैं। अतः यह विरोधी परिस्थिति। वाजपेयी जी ने अपनी भूमिका में एक जगह संकेत किया है कि 'यौवन सुलभ सौन्दर्य की लालसा, जहाँ वह सौन्दर्य तक ही सीमित है, भोग नहीं है। यदि उसमें पर्याप्त निस्संगता है तो वह काव्य का आभूषण ही है।' आगे उन्होंने कहा है कि 'सस्ती अनैतिक उत्तेजना वस्तुवादी साहित्य का' दूषण है। इन दो कसौटियों पर उन्होंने अञ्चल की कविता को जाँचने की कोशिश नहीं की, उन्होंने भी इसे टाल दिया है। वैसे भी 'भोग' और 'अनैतिक' की व्याख्या नहीं की है, और इन कसौटियों की सत्यता के बारे में बहस की गुञ्जाइश रह जाती है। अतः नारी के प्रति अञ्चल के दृष्टिकोण को जाँचने में आलोचकों ने जो हिचकिचाहट दिखाई है, उससे अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो गई हैं।

'हंस' की एक टिप्पणी में मैंने यह स्वीकार किया था कि अभी तक नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण अपमानजनक रहा है। कई मित्रों ने रोषपूर्ण पत्र लिखे कि शायद मेरा सिर फिर गया है जो मैं प्रतिक्रियावादियों के साथ समझौता कर रहा हूँ, या कम से कम उन्हें अञ्चल की कटु आलोचना करने का प्रोत्साहन दे रहा हूँ। स्वयं अञ्चल को मेरा कथन कटु लगा। लेकिन निष्पक्ष आलोचना का वातावरण यह नहीं है, और इसी दूषित वातावरण ने अञ्चल की प्रगति को बहुत कुछ रोका है। 'अपमानजनक' के स्थान पर यदि

'संकुचित' होता तो कदाचित किसी को आपत्ति न होती। अतः नारी के प्रति अञ्चल के दृष्टिकोण को जाँचना आवश्यक है।

वाजपेयी जी ने भूमिका में लिखा है, 'स्त्री पर्दे की वस्तु या छायात्मक भाव संकेतों की पात्री न रहकर सामाजिक प्राणी के रूप में प्रतिष्ठा पा रही है, यह अञ्चल के काव्य से सुस्पष्ट हो जाता है......' अञ्चल के काव्य की नारी क्या वास्तव मे सामाजिक प्राणी है ? 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की सभी कविताओ में नारी के साथ अञ्चल ने जिस सामाजिक सम्बन्ध की कल्पना की है वह केवल यौन-संबंध है।

एक पल के ही दरस में जग उठी तृष्णा अधर में
जल रहा परितप्त अङ्गों में पिपासाकुल पुजारी

(अन्तर्गीत-मधूलिका)

'मधूलिका' की अधिकांश कविताओं में उद्दीपन का एक ही वातावरण रहता है, प्रकृति भी निर्बन्ध यौन-सम्बन्ध का विराट आयोजन है :

केलि-कलातन नव लतिकाएँ लिपट-लिपट तरु तरु से
रभस-विभासित-आत्म शिथिल-सी विकल हुई रति-सुख से

(मधु का पापी : मधूलिका)

और इस 'इन्द्रजाल' के कारण निर्बन्ध पिपासा छिपाये छिपती ही नहीं—

कौन जलाता रन्ध्र रन्ध्र में उच्छल रति-गति रस की,
अभी नहीं सन्तोष अभी तो अमित पिपासा बाकी,

और इस अनियन्त्रित तृष्णा का परिणाम है कि कवि बलात्कार के लिए भी तत्पर हो जाता है :

आज सोहाग हरूँ किसका लूटूँ किसका यौवन,
किस परदेशी को बन्दी कर सफल करूँ यह वेदन ?

(आज तो—मधूलिका)

और मिलन-वेला में तो प्यास बुझती ही नहीं—
अभी बहुत बेहोश-शिथिल होना, सुध-बुध खोना है !
अरे, अभी तो उस अनन्त आलिङ्गन में सोना है !!
(मेरे भोले साक़ी : मधूलिका)

इस प्रकार मधूलिका में तृष्णा, लालसा और प्यास का आदर्श स्त्री के साथ केवल अनियंत्रित, निर्बन्ध यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का आदर्श है। कवि के किसी अन्य कार्य-व्यापार में वह सहयोग-असहयोग करती नहीं दीखती। यहाँ तक कि मधूलिका की अन्तिम कविता 'आज मरण की ओर' में जब कवि संघर्ष या क्रान्ति की ओर बढ़ते 'भूखे-प्यासे' लोगों का चित्र खींचता है तो उस चित्र में भी भूखे पेट को भरने के लिए स्त्री अपने रूप का व्यापार ही करती है, अपना पेट भरने का उसके पास और कोई सामाजिक साधन नहीं है; स्त्री के ऊपर पुरुष या समाज यदि अत्याचार करता है तो वह भी अनियंत्रित यौन-सम्बन्ध का ही क्रय करके।

'अपराजिता' में नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण किंचित परिष्कृत रूप में वही है जो 'मधूलिका' में है। प्रेमी और ग्राहक दोनों ही स्त्री के साथ यौन-सम्बन्ध ही स्थापित करते हैं, स्त्री दोनों के लिए केवल योनि-मात्र ही है। प्रेम-मिलन में अथवा अत्याचार की चक्की में, दोनों स्थितियों में पड़कर उसे पुरुष की तृष्णा ही बुझानी पड़ती है। यहाँ तक कि प्रेमी भी उसके साथ अन्य किसी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहता। यह दृष्टिकोण संकुचित तो है ही, अपमान जनक भी है ? यदि किसी संभ्रांत, शिक्षित, नये स्वतन्त्र विचारों की महिला से पूछा जाय तो वह भी पुरुष के साथ केवल अनियन्त्रित यौन-सम्बन्ध ही स्थापित न करना चाहेगी, और ऐसा किया जाना उसे अपने नारित्व का अपमान लगेगा, क्योंकि नारी एक सामाजिक प्राणी है, और पुरुष के साथ उसके सुख-दुःख, उत्थान-पतन और संघर्ष में कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना चाहती है। आज यदि

नारी परतन्त्र है, तो केवल यौन-स्वातन्त्र्य देने से उसे स्वतन्त्र नहीं किया जा सकता।

'किरणवेला' में भी नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण मूलतः वही है जो पहले था। इसे उन्होंने स्वयं अपने प्राकथन 'मैं—अब तक' में स्वीकार किया है—'जहाँ मैं बहक गया हूँ वहाँ मेरी दुर्बलता है—जीवन के नयी रोमांस के प्रति अवांछनीय आसक्ति है।' एक प्रतिष्ठित कवि के मुख से निकले ये शब्द महत्व रखते हैं। क्योंकि, कवि अपने प्रशंसक आलोचकों की अपेक्षा अधिक ईमानदारी से अपनी ज़िम्मेदारी को महसूस करने लगा है। उन पाठकों को भी जो अन्य रूढ़ कारणों से अञ्चल की कविता को अरुचिकर मानते हैं, कवि के इस वक्तव्य पर विचार करना चाहिए। कवि स्वयं अपने पुराने दृष्टिकोण को अनुचित मानने लगा है, और यह साधारण बात नहीं है। अभी कवि उस दृष्टिकोण को पूरी तरह बदल पाया है या नहीं, यह बात महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि हम जानते हैं कि अभी तक वह इसमें सफल नहीं हुआ है लेकिन वह प्रयत्नशील है, इस बात को भूल जाना कवि के साथ अन्याय करना है।

यह 'नयी रोमान्स' जिसके प्रति अञ्चल ने संकेत किया है, छायावाद की ही विकृति है। छायावाद में यदि अशरीरी भावनाओं द्वारा आध्यात्मिक आधार देकर प्रेमाभिव्यक्ति की गई थी, और अञ्चल के काव्य में स्थूल इन्द्रियता के रूप में, तो इससे दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं हो जाता। छायावाद की अशरीरी भावनाएँ भी असंतोष को व्यक्त करती हैं, अन्यथा सामाजिक प्रतिबन्धों को स्वीकार कर भावनाओं में जीवन की वास्तविकता से भागने का उपक्रम न होता। मानसिक विशृङ्खलता इसका परिणाम है। अञ्चल का असंतोष सामाजिक प्रतिबन्धों और ज़िम्मेदारियों को ठुकरा कर व्यक्त होता है। सामाजिक विशृङ्खलता या अराजकता इसका परिणाम है। वर्तमान सामाजिक असमताओं और प्रतिबन्धों के प्रति विद्रोह की शृङ्खला के ये

दो छोर हैं, शृङ्खला एक ही है। अतएव नारी के प्रति अञ्चल का अब तक का दृष्टिकोण किसी नये क्रान्तिकारी सन्देश की घोषणा नहीं करता। 'किरणवेला' में इस 'त्र्यी रोमांस' की अन्तिम विकृति भी देखने में आती है। नारी यहाँ अब वर्ग-समाज की प्राणी भी है, मज़-दूरिन या भिखारिन! और शोषण और दोहन के बीच पली इस नारी के जननी-रूप को कवि घृणा की दृष्टि से देखता है, उसकी बेडौल आकृति उसे और भी भद्दी लगती है, क्योंकि उन्मुक्त रोमांस की कल्पना की नारी सदैव अप्सरा जैसी सुन्दर और यौवन-मदमाती होती थी। इसी कारण गर्भिणी स्त्री के ये चित्र :

पेट में भरा एक दूसरा मांस पिंड हड्डियों का निचोड़।

या

उलटा टँगा है अति पीड़क झुकावन
काल का कठोर अत्याचार देखो इसकी कमर में!

नारी की दुर्गति करनेवाले समाज के शोषकों की अञ्चल ने इस कविता में भर्त्सना की है, लेकिन नारी के मातृत्व के प्रति घृणा भी दिखाई है। और यह 'त्र्यी रोमांस' की विकृति है जो स्त्री-पुरुष के बीच केवल यौन-सम्बन्ध को ही स्वीकार करता है।

नई कविताओं में नारी के प्रति अञ्चल का दृष्टिकोण बदला है, यद्यपि पुराना दृष्टिकोण पीछा करता है।

'किरण-वेला' में आकर अञ्चल की कविता में एक नये दृष्टिकोण की सूचना मिलती है, और यह दृष्टिकोण प्रगतिवाद का है जिस पर मार्क्सवाद का प्रभाव है। लेकिन जब तक जीवन के प्रति समूचा दृष्टि-कोण न बदल जाय तब तक उसमें प्रौढ़ता नहीं आ पाती। अञ्चल की 'किरण-वेला' की कविताओं से भी यह स्पष्ट है। 'त्र्यी रोमांस' की स्मृतियाँ तो प्रबल हो ही उठती हैं, वर्ग-संघर्ष की चेतना पा जाने पर भी क्रान्ति और जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण एक रोमांटिक क्रांति-कारी का ही रहता है। इसी कारण 'सर्वहारा' और 'शोषिता' के प्रति

अपनी सहानुभूति व्यक्त करके भी कवि अकेला है, व्यग्र है, मगर 'मरण त्यौहार' नहीं आता।

'किरणवेला' के बाद की कविताओं में अञ्चल अपने दृष्टिकोण को अधिकाधिक व्यापक बनाते जा रहे हैं।

अब हम संक्षेप में अञ्चल के काव्य के कलागत सौन्दर्य पर विचार विचार करेंगे। भावनाओं की व्यापकता, तीव्रता और गहराई कविता में अपेक्षाकृत अधिक स्थायी सौंदर्य की सृष्टि करती है। 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की कविताएँ सीमित दृष्टिकोण के कारण भावनाओं के संकुचित चौखेटे में ही समा जाती हैं। अधिकांश कविताएँ शब्दों के परिवर्तन के साथ अपने को दुहराती हैं—प्रारम्भ में प्रकृति द्वारा नियोजित उद्दीपनों का जमवट, उसके उपरान्त कवि के मानस में विरह-वेदना की टीस का उठना और तृष्णा और लालसा का उमड़ पड़ना। यह वस्तु (Content) किरणवेला तक की कविताओं में बार-बार सामने आती है, और इसी कारण 'अन्तर्गीतों' की भरमार हैं। कारण नारी के साथ केवल यौन-सम्बन्ध की कल्पना है, और यह यौन-सम्बन्ध विशेष उद्दीपनों द्वारा ही व्यक्त और सुलभ होता है। 'किरणवेला' में यदि अञ्चल की प्रतिभा नये मार्ग पर न मुड़ती तो कदाचित अपने को बार-बार दुहरा कर शुष्क हो जाती। इस कारण व्यापक दृष्टिकोण का अभाव यदि पहली दो काव्य-पुस्तकों में खटकता है, तो 'किरणवेला' में आकर नये सीमांत नज़र आते हैं, और एकरसता टूटती है। परन्तु अभी इन नये सीमांतों की परिधि-रेखाओं को और भी विस्तार देने की आवश्यकता है, अनुभव की गहराई और व्यापकता द्वारा।

कविता का सबसे बड़ा गुण है संश्लेषण द्वारा भावनाओं की अभिव्यक्ति। बिना इसके, कविता के भावात्मक प्रभाव शिथिल और बिखरे हो जाते हैं। अञ्चल की कविता में ऐसा परिमार्जन अभी तक दिखाई नहीं पड़ रहा। यही कारण है कि इतनी प्रतिभा का कवि होते

हुए भी उनकी कविताएँ किसी कोटि के पाठकों की ज़ुबान पर नहीं चढ़ पातीं, अर्थात् उनका संगीत, उनकी शब्द-ध्वनि संक्षेपित भावात्मक-प्रभावों द्वारा संगठित नहीं होती कि अनायास ही पाठकों के कानों में गूँज उठे और पंक्तियाँ या कविताएँ स्मृति में घर बनालें। अञ्चल स्वयं इस त्रुटि का अनुभव करने लगे हैं, यह उनके भावी विकास के लिए शुभ लक्षण है। शब्द-योजना और भावाभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण और प्रसादगुणयुक्त होने से ही काव्य का सौंदर्य बढ़ता है, अञ्चल अब तक इस ओर अधिक सचेष्ट नहीं रहे। परन्तु अञ्चल विकास-पथ पर हैं, अभी उनकी यात्रा का प्रारम्भ ही है, अतः प्रारम्भिक त्रुटियों का मार्जन उनके विकास को अधिक गति ही प्रदान करेगा।

—:*:—

चीन के लेखक, कलाकार और हम

हमने चीन के बारे में बहुत-सी बातें सुनी हैं, हममें से कुछ चीन के साहित्य, चीन की जनता के रहन-सहन, रीति-रिवाज के बारे में विशेष जानकारी भी रखते होंगे। हम जानते हैं कि चीन एक विशाल देश है, हमारे देश से भी बहुत बड़ा और वहाँ पैंतालीस करोड़ जनता रहती है। और, चीन एक नया देश नहीं है, चीन की सभ्यता नयी नहीं है। जितनी प्राचीन भारत की सभ्यता है, कदाचित् उससे भी पुरानी सभ्यता चीन की है। चीन के बड़े-बड़े दार्शनिकों का समादर दुनिया में होता आया है। हमारे देश से चीन का सांस्कृतिक सम्पर्क हज़ारों वर्ष पुराना है। हमारे सर्वश्रेष्ठ कवि और कलाकार स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर और हमारे नेता पंडित जवाहरलाल नेहरू ने चीन से भारत के उन पुराने संबंधों को फिर से क़ायम करने के जो प्रयत्न किये हैं उनसे भी हम परिचित हैं।

चीन की जनता ने गत युद्ध में कैसे भाग लिया? चीन की सभी राष्ट्रीय पार्टियाँ जापान-विरोधी मोर्चे में शामिल थीं, और चीन की गुरिल्ला फ़ौजें और चीन के लेखक, कलाकार, विद्यार्थी और स्त्रियाँ जापान-विरोधी युद्ध की रीढ़ थीं। स्वदेश-रक्षा का सबसे महत्वपूर्ण भार उनके ही कन्धों पर था। गुरिल्ला फ़ौजें कैसे लड़ती थीं; जनता के अन्दर किस तरह संगठन बनाती थीं; जिन नगरों पर जापान क़ब्ज़ा कर लेता था उनके आस-पास के देहात में किस तरह Self Defence Governments (स्वदेश-रक्षा सरकार) बनाती थीं और वहाँ की जनता को युद्ध के लिए तैयार करती थीं; जापानियों के सामान से लदे मोटरों, रेल के गोदामों, ट्रेनों, रेल की पटरियों,

टेलीफोन के तारों और देश-द्रोहियों पर आक्रमण कर उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर क्षति पहुँचाती थीं और 'स्वदेश रक्षा सरकार' की ओर से ज़िले का शासन-सूत्र चलाती थीं और साथ में ही किसानों-मज़दूरों के लिए आर्थिक-सुधार भी करती जाती थीं, उनके इन कार्यों का अध्ययन करना हमारे लिए ज़रूरी है।

लेखकों की हैसियत से हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि चीन के लेखकों और कलाकारों ने अपनी स्वदेश-रक्षा की लड़ाई में किस तरह क्या भाग लिया, क्योंकि आज नहीं तो कल हमारी क़िस्मत का वारा-न्यारा भी लड़ाई के मैदानों में होने लगेगा और हम जो प्रगतिशील और राष्ट्रीय लेखक हैं अगर अभी से तैयार न रहेंगे तो अनचेते में अपनी सभ्यता और संस्कृति को नष्ट हो जाने देंगे।

चीन के लेखक और कलाकार हमारे लेखकों से भी ज्यादा कल्पनाशील होते हैं, अब तक उन्होंने कल्पना के लोक में नीड़ बनाकर उन्मुक्त विहग की तरह जो उड़ाने भरी हैं उन पर आश्चर्य होता है। परियों की कहानियाँ, रहस्यवादी रोमान्टिक कविताएँ, वे इन्हीं में रमे रहे हैं। लेकिन सन् १६३२ में ही जब जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण किया, वहाँ के लेखकों की आँखें खुल गईं, उन्हें लगा कि कोई निर्दय बहेलिया उनके कल्पनालोक के भव्य-नीड़ों को नोचकर फेंक रहा है और जब उन्होंने पीकिंग, शंघाई और नैनकिंग में फ़ासिस्टों के बर्बर कारनामे देखे तो वे सिहर उठे, 'नानकाई विश्वविद्यालय के खँडहरों ने उनकी आत्मा कचोट कर उन्हें जगा दिया। एक बर्बर साम्राज्यवाद, उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनकी कला और साहित्य पर आक्रमण कर बैठा था; इसलिए उन्होंने सोचा कि यदि इस समय भी संगठन कर राष्ट्र में एकता करने की कोशिश नहीं करते तो वे कभी एक सभ्य जीवन नहीं बिता सकते और तब से वहाँ के लेखक जापान-विरोधी युद्ध में सबसे आगे हैं। चीन के गोर्की लू-सूँ जिनकी कहानी 'दी स्टोरी ऑफ़ आह-क्यू' इस युग की सर्वश्रेष्ठ कहानी है, वे और

दूसरे सैकड़ों लेखक जापान-विरोधी सांस्कृतिक मोर्चे में संगठित हो गये और उन्होंने जनता को जगाने के लिए कला के जिन नए रूपों का विकास किया, उनमें जन-गायन और जन-नाट्यशाला प्रमुख हैं।

जन-गायन नई चीज़ नहीं है; हमारे देश में भी बहुत से लोक-गीत सामुहिक रूप से गाये जाते हैं; नावों पर काम करते हुए या मछली मारते हुए मल्लाहों के गीत, नदी या तालाब के किनारे कपड़ा धोते हुए धोबियों के गीत, दीवार चुनते हुए राजगीरों के गीत या खेत बोते या काटते हुए किसानों के गीत हमने सुने हैं और हम जानते हैं कि अपने काम में लगन पैदा करने की शक्ति उनमें कितनी होती है।

चीन में वहाँ के लेखकों ने इसी सामूहिक गायन को जापान-विरोधी संगठन का सबसे तीव्र अस्त्र बना दिया। सन् १६३२ में एक तरुण कवि N. Y. I. Erh ने एक गीत लिखा—March of the Guerillas' जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

Arise! Ye, who refuse to be bond slaves
With our very flesh and blood
Let us build our new great wall,
China's masses have met the day of danger,
Indignation fills the heart of all of our Countrymen,
Arise! Arise! Arise!
Many hearts with one mind
Brave the enemy's gunfire
March on!
Brave the enemy's gunfire
March on! March on! March on! On!

यह गीत आज चीन के करोड़ों आदमियों की ज़बान पर है। सन् '३४ में एक तरुण ईसाई ने किसी अमेरिकन पत्र में पढ़ा—Music unites the people और उस कल्पनाशील युवक के हृदय में यह बात बैठ गई कि जापान के विरुद्ध चीन की जनता में

जागृति और एकता पैदा करने के लिए संगीत को एक ज़बर्दस्त हथियार बनाया जा सकता है। संगीत हमारे यहाँ की ही तरह मनोरञ्जन की चीज़ था, जिसे आराम कुर्सियों पर बैठकर म्यूज़िक कांफ्रेंसों में या महफ़िलों में सुना जाता था, उससे और कोई उपयोग का विचार ही न उठता था। लेकिन इस तरुण ईसाई 'लिन-लियांग को' ने सङ्गीत का क्रान्तिकारी और स्वाभाविक उपयोग करने की ठान ली। और उसने Y. M. C. A. के मैदान में चीन के राष्ट्रीय गीतों को सबके साथ मिलकर गाना शुरू किया।

पहले दिन उसने साठ आदमी इकट्ठे किये जिनमें दफ़्र के लड़के, क्लर्क, गोदाम के बाबू, चपरासी, रिक्शा खींचनेवाले मज़दूर सभी शामिल थे! रोज़-रोज़ उसने ये गीत गवाने शुरू किये, गानेवालों को सिखाया और एक महीने के अन्दर ही तीन सौ गानेवाले तैयार कर दिये। सामूहिक गायन की सभाओं में चार-चार हज़ार दर्शक एक स्वर से गीत गाने लगे और कुछ हफ़्तों के अन्दर ही सारे शंघाई के अन्दर यह आन्दोलन तूफ़ान की तरह व्याप्त हो गया। इसके बाद उसने साठ बालक बालिकाओं की एक मण्डली तैयार की जिनमें चालीस लड़के और बीस लड़कियाँ थीं और जिनकी अवस्था आठ से अठारह के बीच में थी। यह मण्डली शंघाई से चलकर आसपास के सात-आठ प्रान्तों में लगातार घूमती रही, हर जगह गाने गवाती हुई, जनता का संगठन करती हुई, जनगायन की मण्डलियाँ क़ायम करती हुई, छोटे-छोटे जापान-विरोधी नाटक खेलती हुई और जनता को स्वदेश-रक्षा के लिए उत्प्रेरित करती हुई। इसके उपरान्त यह आन्दोलन, जहाँ-जहाँ भी थोड़े या बड़े समूह के अन्दर मनुष्य रहते हैं वहाँ फैल गया, स्कूलों में, कालेजों में, फ़ैक्टरियों और गावों में चीन की जनता जापान के विरुद्ध एक स्वर से गायक बन गई। उस समय जो गीत वहाँ लिखे जाते, वे अधिकांश राष्ट्र-रक्षा, गुरिला-युद्ध, तरुण युवक-युवतियों के कर्तव्य के सम्बन्ध में रहते और चीन की अन्तिम

विजय के अन्दर उनके अटूट विश्वास की घोषणा करते ।

इन गीतों में जोश भी रहता है, व्यंग भी मुझे याद आता है। कहीं मैंने दो गीत पढ़े थे, एक फ़ौज के कैप्टेन के प्रति था और एक विश्वविद्यालय के महापण्डित प्रोफेसर के प्रति, जिसका नाम था 'Scholar Ghost'। पहला गीत चीन की स्त्रियों का था जिसमें उन्होंने फौज के कप्तान से कहा था कि तुम बड़े बहादुर हो, सोने और चाँदी के तमग़े लटकाए फिरते हो, लेकिन जापान की फौज के आगे भीगी बिल्ली बन जाते हो। अगर तुमसे बन्दूक नहीं उठती तो हमें दो और हमारे पेटीकोट पहनकर तुम घर में खाना पकाया करो। दूसरे गीत में प्रोफ़ेसर पर व्यंग था कि इस विद्वता के प्रेत से जब कहा जाता है कि तुम्हारे देश पर आक्रमण हुआ है, तब वह नेक सलाह देता है कि पहले एक किताब पढ़ लो ; जब उससे कहा जाता है कि जापानी हमारी संस्कृति का नाश कर रहे हैं, तब वह कहता है—पहले एक किताब पढ़लो। इस विद्वता के प्रेत की निगाह सरकारी पदों पर रहती है और जब आसमान में बमवर्षक हवाई जहाज़ बूँ-बूँ करते हैं, तब वह कहता है कि पहले एक किताब पढ़ लो।

इस तरह की तीव्र व्यंग-पूर्ण कविताओं का भी जन-गायन होता क्योंकि वहाँ के स्त्री और पुरुष यह बर्दाश्त नहीं कर सकते कि कोई लड़ाई में ढिलाई करे या बेकार बैठा सिगरेट फूँके। कुछ गीतों में हास्य भी मिश्रित रहता, लेकिन उनके पीछे जनता की दृढ़ भावना झलकती है जैसे 'Song of Chinese women at war" की यह कुछ पंक्तियाँ—

To the front! To the front!
Let us bring our needles
To the front!
To the front!
Let us bring our thread,

To make clothing for our heroes at the front.
To the front!
To the front!

लेकिन जो गीत इन जनगायन मंडलियों के द्वारा देश के कोने-कोने में प्रतिध्वनित हो उठे उनमें नीडर का 'The March of the Guerillas'. 'The Song of the lone-Battalion', 'For we cannot die' 'Guerilla Song' 'Song of Young women', 'Partisan Song' आदि मुख्य हैं। Song of young women के अन्दर उनके अपने सामाजिक सुधार की क्रान्तिकारी भावना भी प्रबल है, जैसे—

Smash the fetters of feudalism,
Kick down the old social order;
We are the young women of China;
We stand at the forefront of the struggle.

गुरिल्ला-गीत जो इतना प्रचलित है, इस प्रकार है—

Since we are all good marksmen
None of our bullets shall be wasted;
Since we are all strong
We shall not be afraid of the difficulties;
In all the thick forests
There you can find camps of our comrades;
On all the high mountains
There are thousands of our brothers.
Not enough to eat, not enough to wear,
The enemy will send these things to us.
Not enough guns, not enough rifles,
The enemy will manufacture them for us.
We are all raised up on this land,
Every inch of it belongs to us.

Whoever dares to take it away form us
We will fight them to the end.........

वहाँ साधारण जनता के बीच छोट-छोटी चौपाइयाँ भी प्रचलित हो गईं, जिन्हें अक्सर लोग गाते रहते। एक किसान निहत्था ही अपने देश के लिए लड़ने जा रहा है, अटपटी ग्रामीण भाषा में उसके गाँव के लोग कहते हैं :—

Yon, leopard of North Shensi, riding on a donkey
·On your head only a turban, using your pipe for a whip.

तो भी निहत्थी चीनी जनता ने जो कर दिखाया मानव-इतिहास उसके प्रति जितनी भी कृतज्ञता प्रकाशित करे थोड़ी है।

चीन का Partisan Song जो उनकी उत्कट देश-प्रेम की भावना का प्रतीक बन गया है, उसकी पंक्तियाँ हृदय में उत्साह और प्रेरणा की एक झंकार पैदा कर देती हैं :

We are partisans, Ya-hei !
Defending our native land, Ya-hei !
We are country rustics, Ya-hei !
Who wants to be a slave ? Ya-hei !
We will expel the Japanese from our land, Ya-hei !
We will be free, we will be joyous, Ya-hei.

जन-गायन की सैकड़ों मंडलियाँ चीन के गाँवों-गाँवों में घूमती थीं। और, चीन के बड़े-बड़े गायकों ने शास्त्रीय स्वर-संधानों को छोड़-कर लोक-गीत के स्वरों को और भी जनप्रिय और जंगजू बनाया। इसके अतिरिक्त चीन के लेखकों ने, और अभिनेता-अभिनेत्रियों ने जन-नाटक आन्दोलन चलाया जिसके लिए चीन के सर्वश्रेष्ठ लेखकों ने नाटक लिखे। नौजवानों की नाटक मंडलियाँ जिन्हें Jen-Min-K'ang Erh-chii-she 'जनता की जापान-विरोधी नाटक समिति' ने संगठित किया, गाँवों-गाँवों में घूमीं, नाटक खेले,

स्वदेश-रक्षा का पैग़ाम पहुँचाया। जनता उन्हें देखकर करुणा से रो उठी, ग़ुस्से से भर गई और गुरिल्ला फ़ौजों में भरती हो गई।

साधारण सादे स्टेज पर, या सड़क पर या गाँव की किसी चौपाल पर ये नाटक खेले जाते। अनेक नाटक समितियों ने इस समय चीन में काम किया जैसे लू-सूँ नाटक समिति, जन-नाटक समिति—प्रेक्टिकल नाटक समिति, लड़कियों की नाटक समिति आदि। लड़कियों की नाटक समिति की लड़कियाँ सड़क के किसी कोने या चौराहे पर तख़्त जोड़कर एक स्टेज बना लेतीं और जब कुछ लोग इकट्ठे हो जाते, वे नाटक खेलना शुरू कर देतीं। इन नाटकों में जापानी सैनिकों द्वारा की गई क्रूरताओं के दृश्य रहते, चीनी सिपाहियों की बहादुरी के क़िस्से होते, युद्ध के सम्बन्ध में उठनेवाले प्रश्नों का हल रहता।

आपको आश्चर्य होगा कि कुमारी होत्सी की नाटक समिति लगातार वर्ष भर घूमती रही और नाटक खेलती फिरी और इस तरह सैकड़ों जगह अकेली उसी समिति ने नाटक खेले। इस तरह की एक सौ से अधिक लड़कियों की ही मंडलियाँ वहाँ घूम-घूमकर नाटक खेलती रहीं। लड़कियों की जन-गायन समितियाँ भी इसी तरह सारे चीन में गीत गाती फिरीं; वे किसानों, सैनिकों, सड़क बनानेवाले मज़दूरों और गाँवों की मा-बेटियों को गीत सुनातीं और सिखातीं। नाटक मंडलियों और गायक मंडलियों ने इस प्रकार चीन की सुप्त आत्मा को जगा दिया। चीन में जो नाटक सबसे ज़्यादा प्रचलित हैं उनमें 'आक्रमण' 'मंचूरिया विजय', '१८ सितम्बर से', 'गरजो चीन', 'हथियार' आदि प्रमुख हैं। ये सभी नाटक जापानी आक्रमण, जापानियों के पाशविक अत्याचार और चीनी जनता के ऐक्य और लड़ने के दृढ़ निश्चय से सम्बन्ध रखते हैं।

नाटकों के साथ-साथ चीनी नृत्यकारों ने भी अपना योग देकर क्रान्तिकारी नृत्य तैयार किये, जैसे 'संयुक्त मोर्चा नृत्य' 'लाल मशीनों का नृत्य'। इन नृत्यों से नाटकों का प्रभाव बढ़ जाता है। इन नृत्यों

में विदेशी आक्रमण के विरुद्ध चीनी जनता के संयुक्त मोर्चे और भवी स्वतन्त्र चीन में औद्योगीकरण होने से उत्पन्न सुख-समृद्धि के दृश्य हैं। लोक-नृत्य जो चीन में प्रचलित थे—किसानों और मज़दूरों में—उनमें भी अब क्रान्तिकारी भावनाओं का समावेश हो गया है। Rice Sprout Dance अब आक्रमण-विरोधी भावनाओं का प्रतीक बन गया है।

चीन के चित्रकार भी पिछड़े नहीं। उन्होने व्यंग चित्रों द्वारा चीन की जनता का ध्यान आकर्षित किया। युद्ध के समय वहाँ के व्यंग-चित्रकार तूलिका और रंग हाथ में लेकर मकान की दीवालों पर जापान-विरोधी व्यंग-चित्र बनाते फिरे। लड़कियों के कार्टून-ग्रुप की कलाकार जब चित्र बनाने पहुँचती तो जनता एकत्र होकर उसकी तूलिका के घूमने का दृश्य देखती, और जब कुछ तूलिकाओं के फिरने से एक शक्ल बन जाती तो वह आश्चर्य-चकित हो ताकती रह जाती। वे कहीं बड़े-बड़े कार्टून बनातीं, कहीं कार्टूनों की एक माला बनातीं, जिसमें कई दृश्यों में व्यंग-चित्रो द्वारा किसी घटना का चित्रण रहता। गाँव के लोग, राहगीर, मज़दूर रुककर उन्हें देखते, समझने की चेष्टा करते, विद्यार्थी उन्हें समझाते, और वे तूलिका के चमत्कार पर आश्चर्य करते, और चित्र के आशय से प्रेरणा ग्रहण करते।

इस प्रकार चीन के लेखक, कलाकार, गायक, अभिनेता, नाटककार, चित्रकार, नृत्यकार, विद्यार्थी, युवतियाँ, प्रोफ़ेसर सभी संगठित होकर दिन-रात चीनी जनता में प्रचार करते रहते और कहीं भी चीनी जनता के हृदय में नाउम्मीदी या निराशा को घुसने नहीं देते। उनका यह कार्य इतिहास में अभूतपूर्व है।

हमारे सामने जब जनता को संगठित और प्रेरित करने का प्रश्न उठेगा, और हमारी राष्ट्रीय सरकार चाहेगी किहम भी चीनी साथियों की तरह ही जनता के हृदयों तक पहुँचनेवाली कला का निर्माण करें तो उस समय हम क्या ४० करोड़ जनता तक एक साथ पहुँचने की

स्वदेश-रक्षा का पैग़ाम पहुँचाया। जनता उन्हें देखकर करुणा से रो उठी, ग़ुस्से से भर गई और गुरिल्ला फ़ौजों में भरती हो गई।

साधारण सादे स्टेज पर, या सड़क पर या गाँव की किसी चौपाल पर ये नाटक खेले जाते। अनेक नाटक समितियों ने इस समय चीन में काम किया जैसे लू-सूँ नाटक समिति, जन-नाटक समिति—प्रेक्टिकल नाटक समिति, लड़कियों की नाटक समिति आदि। लड़कियों की नाटक समिति की लड़कियाँ सड़क के किसी कोने या चौराहे पर तख्त जोड़कर एक स्टेज बना लेतीं और जब कुछ लोग इकट्ठे हो जाते, वे नाटक खेलना शुरू कर देतीं। इन नाटकों में जापानी सैनिकों द्वारा की गई क्रूरताओं के दृश्य रहते, चीनी सिपाहियों की बहादुरी के क़िस्से होते, युद्ध के सम्बन्ध में उठनेवाले प्रश्नों का हल रहता।

आपको आश्चर्य होगा कि कुमारी होत्सी की नाटक समिति लगातार वर्ष भर घूमती रही और नाटक खेलती फिरी और इस तरह सैकड़ों जगह अकेली उसी समिति ने नाटक खेले। इस तरह की एक सौ से अधिक लड़कियों की ही मंडलियाँ वहाँ घूम-घूमकर नाटक खेलती रहीं। लड़कियों की जन-गायन समितियाँ भी इसी तरह सारे चीन में गीत गाती फिरीं; वे किसानों, सैनिकों, सड़क बनानेवाले मज़दूरों और गाँवों की मा-बेटियों को गीत सुनातीं और सिखातीं। नाटक मंडलियों और गायक मंडलियों ने इस प्रकार चीन की सुप्त आत्मा को जगा दिया। चीन में जो नाटक सबसे ज़्यादा प्रचलित हैं उनमें 'आक्रमण' 'मंचूरिया विजय', '१८ सितम्बर से', 'गरजो चीन', 'हथियार' आदि प्रमुख हैं। ये सभी नाटक जापानी आक्रमण, जापानियों के पाशविक अत्याचार और चीनी जनता के ऐक्य और लड़ने के दृढ़ निश्चय से सम्बन्ध रखते हैं।

नाटकों के साथ-साथ चीनी नृत्यकारों ने भी अपना योग देकर क्रान्तिकारी नृत्य तैयार किये, जैसे 'संयुक्त मोर्चा नृत्य' 'लाल मशीनों का नृत्य'। इन नृत्यों से नाटकों का प्रभाव बढ़ जाता है। इन नृत्यों

में विदेशी आक्रमण के विरुद्ध चीनी जनता के संयुक्त मोर्चे और भावी स्वतन्त्र चीन में औद्योगीकरण होने से उत्पन्न सुख-समृद्धि के दृश्य हैं। लोक-नृत्य जो चीन में प्रचलित थे—किसानों और मज़दूरों में—उनमें भी अब क्रान्तिकारी भावनाओं का समावेश हो गया है। Rice Sprout Dance अब आक्रमण-विरोधी भावनाओं का प्रतीक बन गया है।

चीन के चित्रकार भी पिछड़े नहीं। उन्होंने व्यंग चित्रों द्वारा चीन की जनता का ध्यान आकर्षित किया। युद्ध के समय वहाँ के व्यंग-चित्रकार तूलिका और रंग हाथ में लेकर मकान की दीवालों पर जापान-विरोधी व्यंग-चित्र बनाते फिरे। लड़कियों के कार्टून-ग्रुप की कलाकार जब चित्र बनाने पहुँचती तो जनता एकत्र होकर उसकी तूलिका के घूमने का दृश्य देखती, और जब कुछ तूलिकाओं के फिरने से एक शक्ल बन जाती तो वह आश्चर्य-चकित हो ताकती रह जाती। वे कहीं बड़े-बड़े कार्टून बनातीं, कहीं कार्टूनों की एक माला बनातीं, जिसमें कई दृश्यों में व्यंग-चित्रों द्वारा किसी घटना का चित्रण रहता। गाँव के लोग, राहगीर, मज़दूर रुककर उन्हें देखते, समझने की चेष्टा करते, विद्यार्थी उन्हें समझाते, और वे तूलिका के चमत्कार पर आश्चर्य करते, और चित्र के आशय से प्रेरणा ग्रहण करते।

इस प्रकार चीन के लेखक, कलाकार, गायक, अभिनेता, नाटककार, चित्रकार, नृत्यकार, विद्यार्थी, युवतियाँ, प्रोफ़ेसर सभी संगठित होकर दिन-रात चीनी जनता में प्रचार करते रहते और कहीं भी चीनी जनता के हृदय में नाउम्मीदी या निराशा को घुसने नहीं देते। उनका यह कार्य इतिहास में अभूतपूर्व है।

हमारे सामने जब जनता को संगठित और प्रेरित करने का प्रश्न उठेगा, और हमारी राष्ट्रीय सरकार चाहेगी कि हम भी चीनी साथियों की तरह ही जनता के हृदयों तक पहुँचनेवाली कला का निर्माण करें तो उस समय हम क्या ४० करोड़ जनता तक एक साथ पहुँचने की

क्षमता पैदा कर लेंगे ? यह साधारण कार्य नहीं है। इसलिए हम जो लेखक और कलाकार हैं, जो यह सोचते हैं कि हमारे पूर्वजों की भूमि सदा स्वतन्त्र और समृद्ध रहे, जो ग़ुलामी के खिलाफ़ लड़ते आये हैं, जो अपनी महान् संस्कृति की विरासत को बर्बर आक्रमणकारियों के हाथ में नहीं पड़ जाने देना चाहते, हम प्रगतिशील लेखक इस समय देश के लेखकों और कलाकारों से अपील करते हैं कि वे चीन की मिसाल से सबक़ सीखें और अभी से जनता तक पहुँचनेवाले कला के इन रूपों का, जन-गायन, जन-नृत्य और जन-नाटक का विकास करने में संलग्न हो जाँय; क्योंकि स्वदेश-रक्षा की पुकार किसी दिन भी हमें सुनाई पड़ सकती है।